मासिक समाचारपत्र ● पूर्णांक 89 ● वर्ष 10, अंक 8 ● अक्टूबर 2020 ● पाँच रुपये ● 16 पृष्ठ

मज़दूर बिगुल

उ.प्र. में आतंक राज्य को क़ानूनी जामा पहनाने के लिए नया काला क़ानून 7

भक्तोपनिषद : आधुनिक 'भक्तिकाल' की दो भक्त-कथाएँ 15

कोरोना महामारी के बीच मोदी सरकार का श्रम क़ानूनों पर बड़ा हमला 16

हाथरस और बलरामपुर जैसी बर्बरता का शिकार कौन होता है?

इनका ज़िम्मेदार कौन है? दुश्मन कौन है और मज़दूर वर्ग उससे कैसे लड़े?

हाथरस और बलरामपुर जैसी पाशविक घटनाओं का शिकार कौन होता है? इनका ज़िम्मेदार कौन है? दुश्मन कौन है और मज़दूर वर्ग उससे कैसे लड़े?

हाथरस में एक मेहनतकश घर की दलित लड़की के साथ बर्बर बलात्कार और उसके बाद उसकी जीभ काटकर और रीढ़ की हड्डी तोड़कर उसकी हत्या कर दी गयी। इस भयंकर घटना ने हरेक संवेदनशील इन्सान को झकझोर कर रख दिया है। अभी इस घटना की पाशविकता और बर्बरता पर लोग यक़ीन करने की कोशिश ही कर रहे थे कि उत्तर प्रदेश के ही बलरामपुर में भी ऐसी ही एक भयंकर घटना ने लोगों को चेतन-शून्य बना दिया। **हर इन्सान अपने आप से और इस समाज से ये सवाल पूछ रहा है कि हम कहाँ आ गये हैं? क्यों बढ़ रही हैं ऐसी भयावह घटनाएँ? कौन है इन घटनाओं के लिए ज़िम्मेदार? दुश्मन कौन है और लड़ना किससे है?**

क्या ये घटनाएँ संयोग हैं? नहीं! क्या ये कुछ बर्बर, पाशविक और आपराधिक मानसिकता के रुग्ण-बीमार लोगों के कारण बढ़ रही हैं? नहीं! क्या ये कोई प्राकृतिक आपदा है, जिस पर किसी का कोई नियंत्रण नहीं है? नहीं! यह मौजूदा पूँजीवादी पितृसत्तात्मक व्यवस्था की पैदावार है और आज के दौर में इनमें भारी बढ़ोत्तरी के लिए साम्प्रदायिक फ़ासीवादी भाजपा की मोदी सरकार ज़िम्मेदार है। शायद आप

सम्पादक की ओर से

में से कुछ लोग पूछेंगे कि इसमें मोदी जी की क्या ग़लती है!? **हम कहेंगे कि जिस पार्टी में स्वयं ही बलात्कारी और आपराधिक तत्वों की भरमार हो, जो स्वयं बलात्कारियों को बचाने के लिए कठुआ से हाथरस तक रैलियाँ निकालने और सवर्ण पंचायतें करने का काम कर रहे हों, जो बलात्कार के आरोपियों को जेल पहुँचकर बधाई देने और मालाएँ पहनाने में कभी न चूकते हों, उस पार्टी के शासन में औरतों के ख़िलाफ़ होने वाले अपराधों में अगर 16 प्रतिशत से भी ज़्यादा बढ़ोत्तरी हो गयी है, तो क्या इसमें ताज्जुब की बात है**? इसलिए हम मज़दूरों-मेहनतकशों को यह सोचने की ज़रूरत है आज ये बर्बर और अमानवीय घटनाएँ क्यों बढ़ रही हैं, जिन्हें कोई जानवर भी अंजाम नहीं दे सकता है?

लेकिन उससे भी पहला सवाल यह है कि मज़दूर वर्ग के लिए इन घटनाओं पर सोचना और इसके ख़िलाफ़ संघर्ष करना क्यों ज़रूरी है।

इसकी **पहली वजह** तो यह है कि कोई भी संवेदनशील इन्सान ऐसी वाक़यों के ख़िलाफ़ बग़ावत किये बिना नहीं रह सकता है, चाहे ये घटनाएँ किसी भी औरत के ख़िलाफ़ हों। जिनके लिए ये भी सामान्य घटनाएँ बन गयीं हैं, वे अब इन्सान होने की शर्तों को खो चुके हैं।

इसकी **दूसरी वजह** यह है कि ऐसी सभी वारदातों में 99 प्रतिशत का शिकार वे स्त्रियाँ बनती हैं, जो आर्थिक और सामाजिक तौर पर कमज़ोर पृष्ठभूमि से आती हैं। यानी, 10 में से 9 मामलों में ऐसे घृणित स्त्री-विरोधी अपराधों का शिकार मज़दूरों-मेहनतकशों के घरों से आने वाली स्त्रियाँ बनती हैं और इनमें भी एक अच्छा-ख़ासा हिस्सा दलित स्त्रियों का होता है क्योंकि वे सामाजिक रूप से भी कमज़ोर स्थिति में होती हैं।

निश्चित तौर पर, आम तौर पर भी औरतों को पितृसत्तात्मक दमन और उत्पीड़न का सामना करना पड़ता है

(पेज 12 पर जारी)

कृषि-सम्बन्धी तीन विधेयक : मेहनतकशों का नज़रिया

कोरोना महामारी के बीच मोदी सरकार ने बड़ी पूँजी के प्रति अपनी प्रतिबद्धता दिखाते हुए आनन-फ़ानन में कृषि सुधारों के नाम पर जून में ही तीन अध्यादेश पास कर दिये। यही नहीं, सितम्बर के महीने में संसद के सत्र में इन अध्यादेशों को दोनों सदनों में पारित करके क़ानून भी बना दिया गया। **इन तीनों विधेयकों के प्रावधानों में सबसे प्रमुख यह है कि सरकार ने खेती के उत्पाद की ख़रीद के क्षेत्र में, यानी खेती के उत्पाद के व्यापार के क्षेत्र में उदारीकरण का रास्ता साफ़ कर दिया है।**

कृषि-सम्बन्धी इन तीन विधेयकों में क्या है?

पहले विधेयक यानी 'कृषक उपज व्यापार और वाणिज्य (संवर्धन और सरलीकरण) विधेयक' का मूल बिन्दु यही है। अब कोई भी निजी ख़रीदार किसानों से सीधे खेती के उत्पाद ख़रीद सकेगा, जो कि नियमानुसार पहले ए.पी.एम.सी. (कृषि उत्पादन मण्डी समिति) की मण्डियों में निर्धारित लाभकारी मूल्य पर ही खरीदा जा सकता था। यानी, खेती के उत्पादों की क़ीमत पर सरकारी नियंत्रण और विनियमन को ढीला कर दिया गया है और उसे खुले बाज़ार की गति पर छोड़ने का इन्तज़ाम कर दिया गया है।

धनी किसानों व कुलकों को डर है कि इसकी वजह से उन्हें सरकार द्वारा तय मूल्य नहीं मिल पायेगा और कॉरपोरेट ख़रीदार कम क़ीमतों पर सीधे खेती के उत्पाद की ख़रीद करेंगे। हो सकता है कि ये शुरू में अधिक क़ीमत दें, लेकिन बाद में, अपना एकाधिकार क़ायम होने के बाद, वे किसानों को कम क़ीमत देंगे। सरकार ने इन सरकारी मण्डियों और लाभकारी मूल्य की व्यवस्था को औपचारिक तौर पर ख़त्म नहीं किया है, लेकिन नतीजा यही होगा कि ये मण्डियाँ कालान्तर में समाप्त हो जायेंगी या वे बचेंगी भी तो उनका कोई ज़्यादा मतलब नहीं रह जायेगा। वजह यह है कि इन मण्डियों के बाहर व्यापार क्षेत्रों में होने वाले विपणन में किसानों व व्यापारियों पर कोई शुल्क या कर नहीं लगाया जायेगा। नतीजा यह होगा कि लाभकारी मूल्य की व्यवस्था भी प्रभावत: समाप्त हो जायेगी, भले ही उसे औपचारिक तौर पर समाप्त न किया जाये।

इसलिए मौजूदा किसान आन्दोलन के केन्द्र में लाभकारी मूल्य का सवाल है और यही उसके लिए सबसे अहम मुद्दा है या कह सकते हैं कि उसके लिए यही एकमात्र मुद्दा है। इस पहले ही विधेयक में सरकारी मण्डी के बाहर होने वाली ख़रीद को तमाम करों व शुल्कों से मुक्त करने और विवाद के निपटारे की व्यवस्था के प्रावधान भी हैं, जिनका किसान संगठन विरोध कर रहे हैं। **लेकिन इनका भी रिश्ता मूलत: यह सुनिश्चित करने से ही है कि लाभकारी मूल्य मिले।**

दूसरी चिन्ता जो कि इस पहले विधेयक से पैदा हुई है वह आढ़तियों की है। पंजाब में ही 28,000 से ज़्यादा आढ़ती हैं। इन्हें लाभकारी मूल्य के ऊपर

(पेज 8 पर जारी)

बजा बिगुल मेहनतकश जाग, चिंगारी से लगेगी आग!

क्या आप मज़दूर बिगुल के रिपोर्टर बनेंगे?

क्या आप चाहते हैं कि मज़दूरों के जीवन, उनके काम के हालात, उनकी समस्याओं और संघर्षों के बारे में आप जैसे देश के करोड़ों मज़दूरों-कर्मचारियों को और देश के आम नागरिकों को पता चले? क्या आप चाहते हैं कि मज़दूरों की ख़बरें जो हर मीडिया से ग़ायब रहती हैं, वे मज़दूरों के अपने अख़बार के ज़रिये लोगों तक पहुँचें?

तो कलम उठाइए और अपने कारख़ाने, दफ़्तर या बस्ती की रिपोर्टें, लेख, पत्र या सुझाव हमें भेजिए।

'मज़दूर बिगुल' आपका अपना अख़बार है। यह उन तमाम मेहनतकशों की आवाज़ है जिनकी बात इस देश के दर्जनों टीवी चैनलों और हज़ारों अख़बारों में कहीं सुनायी नहीं देती, मगर जिनकी मेहनत के बग़ैर यह देश एक दिन भी चल नहीं सकता।

आपको अगर टाइप करने में समस्या है तो काग़ज़ पर लिखकर उसकी फ़ोटो लेकर हमें व्हाट्सऐप पर भेज दीजिए। आप फ़ोन पर, व्हाट्सऐप पर या बिगुल के साथियों से मिलकर भी उन्हें जानकारियाँ दे सकते हैं। इसके बारे में कुछ भी जानने के लिए हमसे सम्पर्क करिए या अपने इलाक़े में 'मज़दूर बिगुल' बाँटने वाले साथियों से बात करिए।

आप इन तरीक़ों से अपनी बात हमारे तक पहुँचा सकते हैं :

डाक से भेजने का पता : **मज़दूर बिगुल, द्वारा जनचेतना, डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020**

ईमेल से भेजने का पता : **bigulakhbar@gmail.com**

व्हाट्सऐप नम्बर : 9721481546

आपस की बात

प्रिय सम्पादक महोदय मज़दूर बिगुल! मैं बिगुल अख़बार का नियमित पाठक हूँ। लॉकडाउन के पूरे दौर में बिगुल अख़बार नहीं निकल पाया इसके लिए मैं काफ़ी ख़फ़ा भी हूँ। बिगुल अख़बार मज़दूरों-मेहनतकशों को न केवल आज के संघर्षों के बारे में हमें बताता है बल्कि वर्तमान की चुनौतियों और भविष्य की दिशा के बारे में भी यह हमें शिक्षित करता है। ऐसे में कोरोना के कठिन दौर में और खासतौर पर लॉकडाउन के समय ज़रूर से भी ज़रूर मज़दूर बिगुल अखबार निकलना चाहिए था भले ही हम इसका ऑनलाइन संस्करण ही क्यों न निकालते और फ़िर उसे व्हाट्सएप्प जैसे माध्यमों से और लोगों तक पहुँचा देते। हमें इस तरह से चौकस होना चाहिए कि हर स्थिति में किसी न किसी रूप में अपनी आवाज़ जनता तक पहुँचती रहे। उम्मीद है आप मेरी बात को अन्यथा नहीं लेंगे और इसपर गौर करेंगे।

- मनजीत चाहर, रोहतक

साथी मनजीत, आपकी नाराज़गी बिलकुल जायज़ है। जैसाकि आप जानते हैं, 'मज़दूर बिगुल' के पास कोई स्टाफ़ आदि नहीं है, अनेक मज़दूर कार्यकर्ता और आम मज़दूर ही हमारे संवाददाता और लेखक हैं और इसके सम्पादन से जुड़े लोग भी मज़दूर संगठन के कामों में लगे हुए साथी हैं। ऐसे में लम्बे लॉकडाउन और उसके बाद के दौर में अधिकांश साथियों की व्यस्तताओं के कारण अख़बार का प्रकाशन सम्भव नहीं हो सका।

हम जानते हैं कि बिगुल के मुद्रित और ऑनलाइन संस्करणों के हज़ारों पाठकों को इसका बेसब्री से इन्तज़ार रहता है और हमारे पास अनगिनत पाठकों के फ़ोन, मैसेज और ईमेल भी आये। हम आप सहित उन सभी से क्षमाप्रार्थी हैं और हमारा पूरा प्रयास होगा कि फिर से ऐसा कोई व्यवधान नहीं आये।

– सम्पादक

न्यायपालिका और मीडिया की स्वतन्त्रता और निष्पक्षता की असलियत

(पेज 13 से आगे)

तब्दील होती गयी। नीरा राडिया टेप काण्ड में यह साफ़ उभरकर आया कि किस तरह मीडिया जगत के नामी-गिरामी पत्रकार उद्योगपतियों और नेताओं के बीच बिचौलिये का काम करते हैं। ज़ी न्यूज़ प्रकरण के बाद यह सच्चाई उजागर हो चुकी है कि पत्रकार और सम्पादक किसी ख़बर को दिखाने या न दिखाने के लिए पूँजीपतियों से मोटी रक़म वसूलते हैं। पेड न्यूज़ की पूरी परिघटना यह दिखाती है कि किस तरह पूँजीवादी मीडिया में ख़बरें भी साबुन, तेल, मंजन की तरह एक बिकाऊ माल बन चुकी हैं। ऐसे में यह भरोसा करना मुश्किल है कि जो ख़बरें हमें परोसी जा रही हैं वे पूँजीपति वर्ग के इस या उस खेमे द्वारा प्रायोजित नहीं हैं। ज़ाहिर है, पूँजी की ताक़त के बूते खड़ा मुख्य धारा का मीडिया पूँजी और श्रम के बीच जारी संघर्ष में श्रम का पक्ष ले ही नहीं सकता। श्रम का पक्ष तो ऐसा ही मीडिया ले सकता है जो मेहनतकशों की कमाई और समर्थन के दम पर टिका हो।

"बुर्जुआ अख़बार पूँजी की विशाल राशियों के दम पर चलते हैं। मज़दूरों के अख़बार ख़ुद मज़दूरों द्वारा इकट्ठा किये गये पैसे से चलते हैं।" – **लेनिन**

'मज़दूर बिगुल' मज़दूरों का अपना अख़बार है।

यह आपकी नियमित आर्थिक मदद के बिना नहीं चल सकता।

बिगुल के लिए सहयोग भेजिए/जुटाइए।

सहयोग कूपन मँगाने के लिए मज़दूर बिगुल कार्यालय को लिखिए।

मज़दूर बिगुल की वेबसाइट
www.mazdoorbigul.net

इस वेबसाइट पर दिसम्बर 2007 से अब तक बिगुल के सभी अंक क्रमवार, उससे पहले के कुछ अंकों की सामग्री तथा राहुल फ़ाउण्डेशन से प्रकाशित सभी बिगुल पुस्तिकाएँ उपलब्ध हैं। बिगुल के प्रवेशांक से लेकर नवम्बर 2007 तक के सभी अंक भी वेबसाइट पर क्रमशः उपलब्ध कराये जा रहे हैं। मज़दूर बिगुल का हर नया अंक प्रकाशित होते ही वेबसाइट पर निःशुल्क पढ़ा जा सकता है।

आप इस फ़ेसबुक पेज के ज़रिये भी 'मज़दूर बिगुल' से जुड़ सकते हैं :
www.facebook.com/MazdoorBigul

'मज़दूर बिगुल' का स्वरूप, उद्देश्य और ज़िम्मेदारियाँ

1. 'मज़दूर बिगुल' व्यापक मेहनतकश आबादी के बीच क्रान्तिकारी राजनीतिक शिक्षक और प्रचारक का काम करेगा। यह मज़दूरों के बीच क्रान्तिकारी वैज्ञानिक विचारधारा का प्रचार करेगा और सच्ची सर्वहारा संस्कृति का प्रचार करेगा। यह दुनिया की क्रान्तियों के इतिहास और शिक्षाओं से, अपने देश के वर्ग संघर्षों और मज़दूर आन्दोलन के इतिहास और सबक़ से मज़दूर वर्ग को परिचित करायेगा तथा तमाम पूँजीवादी अफ़वाहों-कुप्रचारों का भण्डाफोड़ करेगा।

2. 'मज़दूर बिगुल' भारतीय क्रान्ति के स्वरूप, रास्ते और समस्याओं के बारे में क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों के बीच जारी बहसों को नियमित रूप से छापेगा और 'बिगुल' देश और दुनिया की राजनीतिक घटनाओं और आर्थिक स्थितियों के सही विश्लेषण से मज़दूर वर्ग को शिक्षित करने का काम करेगा।

3. 'मज़दूर बिगुल' स्वयं ऐसी बहसें लगातार चलायेगा ताकि मज़दूरों की राजनीतिक शिक्षा हो तथा वे सही लाइन की सोच-समझ से लैस होकर क्रान्तिकारी पार्टी के बनने की प्रक्रिया में शामिल हो सकें और व्यवहार में सही लाइन के सत्यापन का आधार तैयार हो।

4. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के बीच राजनीतिक प्रचार और शिक्षा की कार्रवाई चलाते हुए सर्वहारा क्रान्ति के ऐतिहासिक मिशन से उसे परिचित करायेगा, उसे आर्थिक संघर्षों के साथ ही राजनीतिक अधिकारों के लिए भी लड़ना सिखायेगा, दुअन्नी-चवन्नीवादी भूजाछोर "कम्युनिस्टों" और पूँजीवादी पार्टियों के दुमछल्ले या व्यक्तिवादी-अराजकतावादी ट्रेडयूनियनों से आगाह करते हुए उसे हर तरह के अर्थवाद और सुधारवाद से लड़ना सिखायेगा तथा उसे सच्ची क्रान्तिकारी चेतना से लैस करेगा। यह सर्वहारा की क़तारों से क्रान्तिकारी भर्ती के काम में सहयोगी बनेगा।

5. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के क्रान्तिकारी शिक्षक, प्रचारक और आह्वानकर्ता के अतिरिक्त क्रान्तिकारी संगठनकर्ता और आन्दोलनकर्ता की भी भूमिका निभायेगा।

प्रिय पाठको,

बहुत से सदस्यों को 'मज़दूर बिगुल' नियमित भेजा जा रहा है, लेकिन काफ़ी समय से हमें उनकी ओर से न कोई जवाब मिला और न ही बकाया राशि। आपको बताने की ज़रूरत नहीं कि मज़दूरों का यह अख़बार लगातार आर्थिक समस्या के बीच ही निकालना होता है और इसे जारी रखने के लिए हमें आपके सहयोग की ज़रूरत है। अगर आपको 'मज़दूर बिगुल' का प्रकाशन ज़रूरी लगता है और आप इसके अंक पाते रहना चाहते हैं तो हमारा अनुरोध है कि आप कृपया जल्द से जल्द अपनी सदस्यता राशि भेज दें। आप हमें मनीऑर्डर भेज सकते हैं या सीधे बैंक खाते में जमा करा सकते हैं।

मनीऑर्डर के लिए पता :
मज़दूर बिगुल, द्वारा जनचेतना
डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020
बैंक खाते का विवरण : Mazdoor Bigul
खाता संख्या : 0762002109003787, IFSC: PUNB0185400
पंजाब नेशनल बैंक, अलीगंज शाखा, लखनऊ

सदस्यता : वार्षिक : 70 रुपये (डाकख़र्च सहित); आजीवन : 2000 रुपये

मज़दूर बिगुल के बारे में किसी भी सूचना के लिए आप हमसे इन माध्यमों से सम्पर्क कर सकते हैं :
फ़ोन : 0522-4108495, 9721481546, 9971196111
ईमेल : bigulakhbar@gmail.com
फ़ेसबुक : www.facebook.com/MazdoorBigul

मज़दूर बिगुल

सम्पादकीय कार्यालय	: 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006 फ़ोन: 8853093555
दिल्ली सम्पर्क	: बी-100, मुकुन्द विहार, करावलनगर, दिल्ली-90, फ़ोन: 011-64623928
ईमेल	: bigulakhbar@gmail.com
मूल्य	: एक प्रति – 5/- रुपये वार्षिक – 70/- रुपये (डाक ख़र्च सहित) आजीवन सदस्यता – 2000/- रुपये

अनियोजित तालाबन्दी ने ग़रीबों पर लादी नियोजित शिक्षाबन्दी

– इन्द्रजीत

कोरोना महामारी की आपदा को अवसर में बदलते हुए केन्द्र से लेकर राज्य सरकारों ने जनता के बहुत बड़े हिस्से पर अघोषित शिक्षाबन्दी लाद दी है। सरकारों की हृदयहीनता और जनद्रोही चरित्र के चलते उच्च शिक्षा तो प्रभावित हुई ही है लेकिन सबसे ज़्यादा दुष्प्रभाव स्कूली बच्चों की पढ़ाई पर डाला है। बिना तैयारी के लॉकडाउन थोपने के बाद बहुत दिनों तक तो पढ़ाई-लिखाई, दाख़िले-कक्षाओं का कुछ अता-पता ही नहीं था उसके बाद ऑनलाइन कक्षाओं का ढकोसला साधनविहीन बच्चों के सामने परोसा गया। स्कूली शिक्षा और उच्च शिक्षा दोनों को ही बड़ी पूँजी के सामने थाल में सजाकर रख दिया गया है। सरकारों को इस बात की कत्तई चिन्ता नहीं है कि ग़रीब और निम्नमध्यवर्गीय पृष्ठभूमि से आने वाले बच्चे अपनी पढ़ाई को कैसे जारी रख पायेंगे बल्कि उन्हें इस बात की चिन्ता है कि ऐसे बच्चों और उनके अभिभावकों को ऑनलाइन पढ़ाई (असल में पढ़ाई के नाम पर भद्दा मज़ाक़) के लिए मानसिक तौर पर तैयार कैसे किया जाये।

कोरोना काल को जनता पर नये-नये दमनकारी क़ानून लादने और जनविरोधी नीतियाँ थोपने के मौक़े के तौर पर देखा गया। नयी शिक्षा नीति - 2020 के ड्राफ़्ट को जनता के सामने रखा तो गया था लेकिन सिर्फ़ दिखावे के लिए ही। अनिल सदगोपाल जैसे देश के बेहतरीन शिक्षाविदों के सुझावों की धज्जियाँ उड़ाते हुए बेहद ग़ैरजनवादी तरीक़े से नयी शिक्षा नीति को जनता पर थोप दिया गया। 31 दिसम्बर के जिस अन्तिम ड्राफ़्ट पर लोगों के सुझाव माँगे गये थे वह ड्राफ़्ट वही नहीं था जिसे 29 जुलाई को पारित किया गया, बल्कि उसमें कई बुनियादी बदलाव कर दिये गये थे। 'ऑनलाइन एण्ड डिजिटल एजुकेशन' का पूरा नया अध्याय ही उसमें जोड़ दिया गया।

ऑनलाइन शिक्षा के बाज़ार पर धनपशुओं की गिद्ध दृष्टि को आप इसी बात से देखे सकते हैं कि आनन-फ़ानन में गूगल और अम्बानी का समझौता हुआ और गूगल ने जिओ में 33,737 करोड़ का निवेश करके इसकी 7.7 प्रतिशत हिस्सेदारी ख़रीद ली। एक रिपोर्ट के अनुसार आने वाले 4 वर्षों में भारत के शिक्षा क्षेत्र में 1500 करोड़ अमेरिकी डॉलर के विदेशी निवेश की सम्भावनाएँ जतायी जा रही थीं। अब कोरोना की 'आपदा में अवसर' तलाशते धन्नासेठों को निवेश का मौक़ा पहले ही मिलने की उम्मीद है। यदि शिक्षा ऑनलाइन होगी तो इससे जुड़े उपकरणों का एक पूरा बाज़ार अस्तित्व में आयेगा जिसमें पूँजीपतियों को मुनाफ़े के अवसर नज़र आ रहे हैं। दूसरा जो अभिभावक अपने बच्चों के लिए मोबाइल, इण्टरनेट और लैपटॉप का इन्तज़ाम नहीं कर पायेंगे उनके बच्चे सीधे तौर पर शिक्षा से महरूम हो जायेंगे। हाल में कोरोना काल की अल्पावधि में ही यह चीज़ देखी जा सकती है कि ग़रीब आबादी पर कैसे नयी शिक्षाबन्दी थोप दी गयी है। नया सीखने की तो बात बहुत दूर है लगातार अभ्यास के अभाव में सरकारी स्कूलों के अधिकतर ग़रीब बच्चे अपना पिछला भी भूल चुके हैं।

यह देखने में आ रहा है कि अभिभावक अपने बच्चों की पढ़ाई को सुचारु रूप से चलाने के लिए अपनी आय के सीमित साधनों और नाममात्र को जमा पैसे से भी हाथ धो रहे हैं। कुछ ही दिन पहले हिमाचल के एक व्यक्ति ने अपनी गाय बेचकर बच्चों के लिए स्मार्टफ़ोन ख़रीदा था। वैसे तो देशभर के हालात कुछ जुदा नहीं हैं किन्तु हम यहाँ फ़िलहाल प्रतिव्यक्ति आय और साधन सम्पन्नता के मामले में अव्वल रहने वाले हरियाणा राज्य के जिले रोहतक का ही ज़िक्र कर रहे हैं।

रोहतक शिक्षा विभाग द्वारा करवाये गये आन्तरिक सर्वे में ये कुछ तथ्य निकल कर आये हैं। रोहतक ज़िले के सरकारी स्कूलों में नामांकन वाले 35 प्रतिशत यानी 20,400 बच्चे या उनके अभिभावकों के पास कोई स्मार्ट फ़ोन ही नहीं है जिसका इस्तेमाल ऑनलाइन पढ़ाई हेतु किया जा सकता है! इनमें से भी 20 फ़ीसदी यानी 11,700 तो ऐसे हैं जिनके पास कोई भी फ़ोन नहीं है। 15 प्रतिशत यानी 8,700 बच्चे या अभिभावक ऐसे हैं जिनके पास मोबाइल फ़ोन तो है लेकिन वह साधारण है और उसका इस्तेमाल ऑनलाइन कक्षाओं के लिए नहीं किया जा सकता है। ऐसे सारे बच्चे ऑनलाइन पढ़ाई या तो कर ही नहीं पाते या फिर इसके लिए वे अपने आस-पड़ोस के स्मार्टफ़ोन रखने वाले परिवारों पर आश्रित हैं। बाक़ी बचे 65 प्रतिशत यानी 38,000 बच्चों में से भी अधिकतर के पास अपने निजी मोबाइल फ़ोन नहीं है और इसी के चलते वे भी अपनी पढ़ाई के लिए अपने अभिभावकों या परिवार के अन्य सदस्यों पर निर्भर हैं।

सरकारी स्कूलों में पढ़ने वाले तक़रीबन 80 फ़ीसदी बच्चे ग़रीब-दलित पृष्ठभूमि से हैं तथा बाक़ी बचे 20 फ़ीसदी बच्चे भी तथाकथित उच्च जातियों लेकिन ग़रीब पृष्ठभूमि से आने वाले बच्चे ही हैं। इनमें से अधिकतर बच्चों के अभिभावक किसी न किसी प्रकार की दैनिक मज़दूरी या काम करते हैं जिसके चलते उन्हें दिन भर बाहर रहना पड़ता है। बहुत सारे अभिभावक ऐसे भी हैं जिनके लिए फ़ोन साथ में ले जाना मजबूरी होती है। क्योंकि अभिभावकों की काफ़ी बड़ी संख्या दैनिक मज़दूरी के काम से जुड़ी है इसलिए इनमें से ज़्यादातर के बच्चों को अपने अभिभावकों के घर वापस आने का इन्तज़ार करना पड़ता है ताकि वे उनका मोबाइल फ़ोन लेकर अपनी पढ़ाई का काम निपटा सकें। हालाँकि हरियाणा के शिक्षा विभाग द्वारा एजुसेट के चार चैनल भी चलाये जा रहे हैं लेकिन ग्रामीण इलाकों में दिन में औसतन केवल चार घण्टे की बिजली ही आ पाती है। ऊपर से बहुतों के पास तो टेलीविज़न ही नहीं है तथा जिनके पास है भी उनमें बहुतों के पास कोई केबल या डिस कनेक्शन नहीं है। लेकिन हरियाणा का शिक्षा विभाग लॉकडाउन के दौरान शिक्षा के मामले में अपने प्रयासों से 65 प्रतिशत बच्चों को लाभान्वित करने का दावा करता है। हम शिक्षा विभाग के उपरोक्त आँकड़ों और अपने सहजबोध से ही अनुमान लगा सकते हैं कि ऑनलाइन पढ़ाई के नाम पर किस तरह से जनता को बरगलाया जा रहा है और ग़रीब आबादी को शिक्षा की पहुँच से दूर किया जा रहा है।

इसमें भी कोई शक नहीं है कि सरकारी स्कूलों में कार्यरत ज़्यादातर अध्यापक शिक्षा को बच्चों तक पहुँचाने के लिए भरसक प्रयास कर रहे हैं। लेकिन अधिकतर बच्चे साधनविहीन हैं जिसके चलते अध्यापक भी लाचार हैं। अध्यापकों को ऑनलाइन पढ़ाने और पाठ्य सामग्री तैयार करने में अतिरिक्त मेहनत भी करनी पड़ रही हैं। पहले उन्हें नोट्स या वीडियो तैयार करने पड़ते हैं फिर उन्हें व्हाट्सअप या अन्य माध्यमों पर बच्चों के पास भेजना होता है। यह कार्य तकनीकी रूप से पिछड़े हुए अध्यापकों और ख़ास तौर पर ऐसे अध्यापकों के लिए आसान नहीं होता जो साधारण फ़ोन रखते हैं। अनेक बार तो अध्यापक अपनी तरफ़ से बच्चों के फ़ोन में इण्टरनेट डाटा भी डलवाते हैं ताकि बच्चे सुचारु रूप से अपनी पढ़ाई कर सकें। अध्यापक तो अपनी तरफ़ से कोई कोर-कसर नहीं छोड़ रहे हैं, लेकिन साधनों व सुविधाओं का घोर अभाव निःसन्देह ऑनलाइन शिक्षा पर गम्भीर सवाल खड़े करता है।

ज़्यादातर छोटे-मोटे प्राइवेट स्कूलों या शिक्षा की छोटी दुकानों में पढ़ने वाले बच्चों का भी हाल कोई बेहतर नहीं है। ये स्कूल फ़ीस लेने में तो तत्पर रहते हैं लेकिन इस बात से इन्हें भी कुछ लेना-देना होता कि बच्चों के आर्थिक-सामाजिक हालात कैसे हैं।

कुल मिलाकर कहा जाये तो कोरोना काल में जनता के ग़रीब तबकों पर नयी शिक्षाबन्दी थोप दी गयी है। जनान्दोलन कमज़ोर है इसलिए बड़ी पूँजी का बुलडोजर जनता पर सरपट दौड़ रहा है। जनता पर लदे टैक्सों के पहाड़ का बोझ तो दिनोदिन बढ़ता जा रहा है किन्तु सुविधाओं के नाम पर मिलता है उसे ठेंगा। जनता के संगठित आन्दोलन की ताक़त के बूते ही हम सरकारों को सार्विक शिक्षा जैसी जीवनोपयोगी जन-सुविधाएँ देने के लिए मजबूर कर सकते हैं।

नोएडा की स्त्री मज़दूरों की नारकीय ज़िन्दगी

नोएडा में काम करने वाली महिलाओं की ज़िन्दगी नारकीय है। गारमेण्ट सेक्टर में काम कर रही महिलाओं से मज़दूर बिगुल संवाददाता ने फ़ैक्ट्री और घर से जुड़े मुद्दों पर कुछ प्रश्न पूछे और बातचीत की, उसके आधार पर यह संक्षिप्त रिपोर्ट पेश की जा रही है।

नोएडा में शाही, ओरिएण्ट से लेकर रिचा सरीखी बड़ी-बड़ी गारमेण्ट कम्पनियों से लेकर छोटे-छोटे वर्कशॉपों में महिला मज़दूर दिन-रात खटती हैं। इन सभी कम्पनियों में महिलाएँ ठेके पर ही काम करती हैं। वे असेम्बली लाइन पर काम करती हैं। महिलाएँ और पुरूष लाइन पर बैठते हैं और एक ही कपड़े के अलग-अलग हिस्से को सिलते हैं। लाइन-मैनेजर और सुपरवाइज़र मज़दूरों पर काम तेज़ी से करवाने का दबाव बनाये रखते हैं। अगर कोई काम पर देर से आये या प्रशासन की कोई शिकायत करे तो सुपरवाइज़र ही मज़दूरों को तंग करले लगते हैं। हालाँकि महिला मज़दूरों के अनुसार सुपरवाइज़र भी मज़दूर ही हैं, बस वे मालिकों की चमचागिरी करते हैं, इसलिए उन्हें अधिक वेतन मिलता है। काम के दौरान महिलाओं को शौचालय जाने भी इजाज़त नहीं होती है और लड़-झगड़कर ही महिलाएँ जा पाती हैं। खाने का ब्रेक भी बहुत छोटा होता है और काम का दबाव अधिक रहने के कारण इस ब्रेक में भी कटौती की जाती है। ऊपर से लगभग हर रोज़ महिलाओं को पुरूषों की गन्दी नज़रों को झेलना पड़ता है और इस पर भी बोलने पर उन्हें काम से हाथ धोना पड़ सकता है। अगर कोई पाँच मिनट भी लेट हो जाये तो उसकी आधे दिन की या एक घण्टे की सैलरी काट दी जाती है और बहस करने पर सीधे काम से निकालने की धमकी दी जाती है। आज फ़ैक्ट्री इलाक़ों में महिलाओं का संगठन न होने के कारण मालिक महिला मज़दूरों को मनमर्ज़ी से खटाता है। फ़ैक्ट्री से निकलकर महिला मज़दूरों को घरों का भी सारा कामकाज़ देखना होता है। सुबह घर में साफ़-सफ़ाई, नाश्ता और खाना बनाने के बाद घर आकर पति की सेवा और रात के खाने की तैयारी में जुट जाना होता है। घरों में बच्चों की देखरेख का भी ज़िम्मा महिलाओं पर ही होता है। दोहरी ग़ुलामी में जीती महिला मज़दूर फ़ैक्ट्री से निकलकर घर की चारदीवारी के क़ैदख़ाने में खटती है। फ़ैक्ट्री में काम करने वाली महिलाएँ अपने घर में फिर भी एक हद तक अपनी बात रखती है और बराबरी की माँग करती हैं और उनके अनुसार उनकी स्थिति उन महिलाओं से बेहतर है जो सिर्फ़ घरों में ही रहती हैं। सभी महिला मज़दूरों को संगठन की ज़रूरत महसूस होती है और वे ऐसे संगठन से जुड़ना भी चाहती हैं।

– शुभी

गुलाब का गोला

करीब दो दहसाला पहले सिलवासा, (दादरा नगर हवेली) फैक्ट्री की मेरी टीम के ज़िम्मे मिक्सर प्लांट भी था। मुझे जो मैनपावर मिली थी उसमें मयूरभंज के आदिवासी गुलाब गौड़ा भी थे।

मिक्सर प्लांट, मतलब मसाला बनाने जैसा काम। इसमें पीवीसी पाउडर, कार्बन ब्लैक, स्टीरियक एसिड, लैड सल्फेट जैसे करीब 11 केमिकल को बर्तन में डालकर घुमाया जाता था। इनमें सबसे ख़तरनाक था मैदा जैसा दिखने वाला कैल्शियम ...वह भी टाइटेनियम कोटिड।

जब इन कैमिकल्स की बोरियाँ एक के बाद एक मिक्सर में दनादन डाली जाती तो वहाँ इतनी धूल हो जाती थी कि कुछ दिखना तक मुश्किल हो जाता था। पर उस वक़्त मजदूर कमरे से बाहर नहीं आ सकते थे क्योंकि मशीन तेज़ी से घूम रही होती थी।

उड़ता हुआ कैल्शियम और पीवीसी की गर्द, नाक के सहारे मज़दूरों के फेफड़ों में सरकती जाती थी। पर मालिकान को इसका इलाज पहले से पता था। सरल सा इलाज।

वो यह कि मिक्सर की लेबर को बाकायदा समझाया गया था कि अगर गुड़ खा लिया जाये तो पेट में जमा होने वाली कैल्शियम कट जाती है। इसलिए उनको तनख्वाह के साथ गुड़ भी दिया जाता था। साथ ही लाल रंग वाला साबुन आधा काटकर और गज भर झीना कपड़ा, मुँह पर बाँधने के लिए।

पर गुलाब के फेफड़ों में न जाने कुछ जमा होता जा रहा था। एक दिन उसको तेज़ दर्द उठा। डॉक्टर ने बताया कि गुलाब के पेट में कोई गोला बन गया है... इसके कुछ दिनों बाद कारखाने वालों ने उसे 'स्वास्थ्य लाभ के लिए' गाँव वापस भेज दिया।... वापस...

गुलाब नहीं लौटा। लौट ही नहीं सकता था... लेकिन गुलाब का गोला, मिक्सर मज़दूरों के मन में डर बैठा गया। पर मालिकान के पास इसका भी इलाज था। अब मज़दूरों को मिलने वाला गुड़ दोगुना कर दिया गया और साबुन की पूरी टिकिया मिलने लगी। सरल सा इलाज...

– शोभित जायसवाल

(फ़ेसबुक से साभार)

“आपदा में अवसर” की एक और घृणित मिसाल : उ.प्र. का कोरोना किट घोटाला

– अनुपम

भारतीय जनता पार्टी जब केन्द्र में सत्ता में नहीं आयी थी तब वो ‘चाल, चरित्र और चेहरे’ और भ्रष्टाचार के लिए ‘ज़ीरो टॉलरेंस’ की बात किया करती थी। लेकिन जैसे ही उसने सत्ता का स्वाद चखा उसका चाल, चरित्र और चेहरा सबके सामने उजागर होता गया। पहले लोग कांग्रेस को ही पतित और भ्रष्ट पार्टी मानते थे, लेकिन भाजपा के नेतृत्व में केन्द्र और राज्यों में जो सरकारें बनीं उन्होंने घोटालों के पुराने कांग्रेसी कीर्तिमानों को ध्वस्त करते हुए नये-नये कीर्तिमान रच दिये। यह ऐसी पार्टी है जिसे कारगिल युद्ध के दौरान शहीद हुए सैनिकों के ताबूत की ख़रीद तक में घोटाला करने में ज़रा सी हिचक भी नहीं हुई। आज जब देशभर में कोरोना की जाँच नाम पर निजी अस्पताल व पैथोलॉजी लोगों की जेब काटने में लगे हैं, उत्तर प्रदेश में कोरोना किट की सरकारी ख़रीद में एक नया घोटाला सामने आया है। कुछ दिनों तक मीडिया में इसकी चर्चा हुई लेकिन बाद में इसे ठण्डे बस्ते में डाल दिया गया।

चार सौ करोड़ से अधिक का यह घोटाला कोरोना किट से जुड़ा हुआ है। एक सामान्य कोरोना किट में एक पल्स ऑक्सीमीटर और एक इन्फ़्रारेड थर्मामीटर होता है जिसकी ख़रीद 2,800 रुपये प्रति किट की दर पर करने का निर्देश प्रदेश के सभी ज़िलाधिकारियों को दिया गया था। उन्हें यह भी निर्देश दिया गया था कि यह ख़रीद सरकार द्वारा 2016 में बनाये गये जैम पोर्टल पर ही करें। यह पोर्टल सरकार की कम्पनियों तक सीधी पहुँच बनाने के लिये बनाया गया था।

लेकिन 4 सितम्बर को जब भाजपा के एक विधायक की मुख्यमंत्री को लिखी गयी एक चिट्ठी में इस घोटाले से जुड़ी कुछ बातें सामने आयीं तो इस जैम पोर्टल की हक़ीक़त भी उभरकर सामने आ गयी। विज्ञापनों और काग़ज़ों में दर्शायी गयी भक्तकथित भ्रष्टाचारमुक्त यूपी की इस सच्चाई को कोई भक्त भी नकार पाने में शर्म महसूस करेगा। सुल्तानपुर जिले के लम्भुआ के विधायक देवमणि द्विवेदी ने 4 सितम्बर को चिट्ठी लिखकर योगी सरकार को यह सूचित किया कि उनके ज़िले सहित राज्य के कई ज़िलों में कोरोना किट्स निर्धारित क़ीमत से अधिक क़ीमतों पर ख़रीदी गयी है। उन्होंने इस किट के सुल्तानपुर ज़िले में तय दाम से तीन गुना यानी 9,950 रुपये पर ख़रीदे जाने की बात योगी सरकार को बतायी। जनदबाव के चलते इस चिट्ठी को संज्ञान में लेकर प्रशासन द्वारा जब मामले की जाँच की गयी तो पता चला कि सुल्तानपुर ही नहीं बल्कि ग़ाज़ीपुर और बिजनौर में भी इसी क़िस्म के घोटाले हुए हैं। ग़ाज़ीपुर से प्राप्त जानकारी के अनुसार, वहाँ कोरोना किट को 5,800 रुपये में ख़रीदा गया। वहीं बिजनौर के प्रशासन द्वारा प्राप्त जानकारी के अनुसार, इस किट को 15,750 रुपये में ख़रीदा गया। यानी की सामान्य से पाँच गुनी क़ीमत पर। यूपी के अन्य ज़िलों में क्या हुआ है, इसकी ख़बरें अभी नहीं आयी हैं। लेकिन अपुष्ट ख़बरों के अनुसार यह घोटाला यूपी के अधिकांश ज़िलों में हुआ है।

मामले के सामने आने पर होना तो यह चाहिए था कि अधिक क़ीमतों पर किट ख़रीदने वालों पर कार्रवाई की जाती और मौजूदा सरकार अपनी ग़ैर-ज़िम्मेदारी स्वीकार करती। लेकिन किया यह गया कि सुल्तानपुर और ग़ाज़ीपुर के जिलाधिकारियों पर कार्रवाई करने की बजाय वहाँ के ज़िला पंचायत अधिकारियों को निलम्बित कर दिया गया। फिर जैसाकि हर घोटाले के बाद होता है कोरोना किट घोटाले की जाँच के लिए एक विशेष जाँच कमेटी गठित कर दी गयी। 10 सितम्बर को भास्कर अख़बार के ऑनलाइन न्यूज़ पोर्टल में आख़िरी बार अपडेट की गयी इस घोटाले से जुड़ी एक ख़बर के अनुसार, इस कमेटी को रिपोर्ट सौंपने के लिए दस दिन का समय दिया गया था। दस दिन से ज़्यादा का समय बीत चुका है और अभी तक किसी को कुछ पता नहीं है कि इस कमेटी ने जाँच में क्या पाया। यानी इस बार भी मामले को ठण्डे बस्ते में डाल दिया गया है। वैसे तो सभी बुर्जुआ पार्टियाँ सिर से पैर तक भ्रष्टाचार की गटरगंगा मे नहाई हुई हैं, लेकिन अब यह साफ़ हो चुका है कि भाजपा लूटपाट करने के मामले को रफ़ा-दफ़ा करने के खेल में नम्बर वन खिलाड़ी है।

बहुत से अख़बार और टीवी चैनल इस घोटाले को उत्तर प्रदेश प्रशासन व नौकरशाही की गड़बड़ी बता रहे हैं, लेकिन हम मानते हैं कि ये घोटाले अपने आपमें समूची व्यवस्था के सड़ेपन को दिखाने वाले चन्द लक्षण-भर हैं क्योंकि इसके लिए महज़ चन्द अधिकारी या नेता ज़िम्मेदार नहीं हैं, बल्कि इसके मूल में वह व्यवस्था है जहाँ चुनाव लड़ने, बजट बनने, बजट के आवण्टित होने और उसको स्थानीय निकाय तक पहुँचाने के हर चरण में लूट के हिस्से की बन्दरबाँट करने वाले लोग भरे पड़े हैं।

अगर कोरोना संकटकाल का ही उदाहरण लें तो इस दौरान लॉकडाउन में जनता की ज़रूरत की किन चीज़ों को जनता तक मुहैया कराने में सरकार ने पहलक़दमी की? उल्टे जनता पर महामारी एक्ट लगाया जाता रहा; जो लोग मास्क लगाकर नहीं निकले, उनपर ज़ुर्माना लगाया गया। यह सब कुछ जनस्वास्थ्य के नाम पर किया गया। पर सवाल यह है कि शासन-प्रशासन को अगर जनस्वास्थ्य की इतनी ही चिन्ता थी तो इतना बड़ा घोटाला हो कैसे गया?

ज़ाहिरा तौर पर, उन्हें जनस्वास्थ्य की नहीं बल्कि अपने स्वार्थ की चिन्ता है जिसे साधने में वे हर संकट की घड़ी में तन-मन और धन से लगे रहते हैं। किसी भी तरह की पूँजीवादी सरकार चाहे लाख कोशिश कर ले, यह सच्चाई सामने आ ही जाती है कि मौजूदा व्यवस्था अन्दर से पूरी तरह सड़ चुकी है। नतीजतन सैकड़ों घोटालों की फ़ेहरिस्त में आये दिन नये घोटालों का नाम शुमार हो जाता है। ज़रूरत है कि एकजुट होकर इन घोटालों का विरोध करते हुए समूची व्यवस्था में आमूलचूल बदलाव लाने वाली नयी क्रान्ति की तैयारी की जाये ताकि लूट और झूठ-फ़रेब का अड्डा बन चुके इन सरकारी प्रतिष्ठानों को ध्वस्त करके जनभागीदारी वाली जनपक्षधर संस्थाओं का निर्माण करने का रास्ता साफ़ हो।

रिको ऑटो धारूहेड़ा संयंत्र के मज़दूरों का संघर्ष पिछले ढाई महीने से जारी है!

रिको ऑटो इण्डस्ट्री अपने धारूहेड़ा संयंत्र (प्लाण्ट), ज़िला रेवाड़ी के बर्ख़ास्त 121 मज़दूरों का विरोध-प्रदर्शन पिछले लगभग ढाई महीने से कम्पनी के बाहर जारी है। इस अन्यायपूर्ण छँटनी के ख़िलाफ़ रिको मज़दूर यूनियन के मज़दूर श्रम विभाग और हरियाणा सरकार से निकाले गये मज़दूरों को वापस लेने की माँग कर रहें हैं।

कम्पनी प्रबन्धन का कहना है कि व्यावसायिक माँग के अनुसार, प्लाण्ट को “सही ढंग” से चलाने के लिए है उसे मज़दूरों को कम करने की ज़रूरत है। उसने अक्टूबर 2019 में ही धारूहेड़ा संयंत्र के मज़दूरों को स्वैच्छिक सेवानिवृत्ति योजना (वी.आर.एस.) की पेशकश की थी। हालाँकि 208 में से केवल 42 ने ही वी.आर.एस. योजना स्वीकार की थी। इसलिए कम्पनी ने 119 और स्थायी मज़दूरों की छँटनी की है। कम्पनी यह दावा भी कर ही है कि उसने ‘औद्योगिक विवाद अधिनियम 1947’ के तहत मज़दूरों का क़ानूनी हिसाब किया है।

मज़दूर यूनियन के अध्यक्ष राजकुमार के अनुसार वास्तव में कम्पनी स्थायी मज़दूरों की जगह सस्ते में ठेका मज़दूरों को रखने की कोशिश कर रही है। अभी तक 70% स्थायी मज़दूरों की छँटनी कर चुकी है। कम्पनी किसी भी तरह से मज़दूरों को काम पर वापस लेने के लिए तैयार नहीं है। इस वक़्त ऑटोसेक्टर में कम बिक्री और कोरोना (कोविड-19) की आड़ में मज़दूरों की छँटनी में लगी हुई है। बार-बार गुहार लगाने के बावजूद इस अयायपूर्ण छँटनी के ख़िलाफ़ सरकार, श्रम-विभाग और प्रशासन किसी भी तरह से मज़दूरों की कोई मदद नहीं कर रहा है। बीजेपी की हरियाणा सरकार और श्रम विभाग का अब पूरी तरह से मज़दूर-विरोधी रवैया सामने आ चुका है।

ज्ञात हो कि कम्पनी प्रबन्धन ने 6 जुलाई को कि 118 मज़दूरों को छँटनी के तहत बर्ख़ास्त कर दिया गया था जिसमें 112 मज़दूर ऐसे हैं जिनको कम्पनी प्रबन्धन पहले ही 22 मई 2020 को निकाल चुकी थी। इसके इलावा 6 अन्य मज़दूरों की भी छँटनी कर दी गयी है।

रिको होण्डा व हीरो के लिए दोपहिया और मारूति-सुजुकी के लिए चारपहिया वाहनों के लिए कलपुर्जों (कम्पोनेण्ट) की बनाती है। ज्ञात रहे कि रिंको धारूहेड़ा ऑटोपार्ट्स बनाने वाली एक बड़ी वेण्डर कम्पनी है। धारूहेड़ा के इलावा बावल, चौपांकी, मानेसर तथा गुड़गाँव में इसके प्लाण्ट हैं। 118 मज़दूरों की पूरी तरह से छँटनी और 3 मज़दूरों को ज़बरन तबादला कर दिया गया था। अब फ़िलहाल कुल 427 स्थायी मज़दूरों में मात्र 48 मज़दूर ही बचे हैं और बाक़ी को और अब 118 मज़दूरों को छँटनी और तीन को ज़बरन तबादला कम्पनी से बाहर कर दिया गया है।

गुड़गाँव-मानेसर से लेकर धारूहेड़ा-बावल तक के इलाके में टी.यू.सी. जैसे तमाम फ़ेडरेशनों (एटक, सीटू, एआईसीसीटूयू, एण्टक, एचएमएस और कुछ स्वतंत्र यूनियनों) का साझा मंच है। लेकिन ख़ुद रिको धारूहेड़ा का आन्दोलन इस बात का गवाह है कि यह मंच इस वक़्त देश के ऑटोमोबाइल सेक्टर में मन्दी और कोरोना की आड़ में कम्पनियों द्वारा मज़दूरों की छँटनी के कहर को रोकने में असमर्थ है। 2016 से ही रिको के ठेका और स्थायी मज़दूरों की संख्या लगातार इस संयंत्र में कम हो रही है। इस इलाक़े के पाँचों संयंत्रों में अब रिको ऑटो के इसी प्लाण्ट में स्थायी मज़दूरों की यूनियन बची है।

फ़िलहाल इलाक़े में मज़दूर आन्दोलन कमज़ोर है। एक, अगर पेशागत (सेक्टरगत) और इलाक़ाई एकता को एक मंच पर लाया जाये तो कम्पनी मालिकों की इस मनमानी की नीति को चुनौती दी जा सकती है।

ऐसे में आन्दोलन को ताक़त और गति देने के लिए बाक़ी के चारों संयंत्रों - चौपांकी, बावल, मानेसर व गुड़गाँव के विभिन्न मज़दूरों की एकता बनाना बहुत जरूरी है। रिको के विभिन्न प्लाण्टों के बीच एकता से कम्पनी प्रबन्धन पर दबाव बनाया जा सकता है। इसके अलावा, धारूहेड़ा में क़रीब 13 यूनियनें हैं, अगर वह भी एक साथ आ जायें तो ताक़त बढ़ेगी। टी.यू.सी के तहत या कैसे भी विभिन्न यूनियनों और कारख़ाना मज़दूरों को बिना देर किये एक मंच पर आने की तुरन्त ज़रूरत है।

अभी हाल में इसी तरह होण्डा के क़रीब 2500 पुराने कैजुअल मज़दूरों को बाहर का रास्ता दिखा दिया गया है। उस वक़्त ट्रेड यूनियन काउंसिल (एटक, सीटू, एण्टक, एचएमएस, एआईसीसीटीयू) के तहत जुड़ी स्थायी मज़दूरों की यूनियनें कोई निर्णायक और असरदार आन्दोलन नहीं कर पायीं और मज़दूरों को निकाल दिया गया है। अब बीजेपी की सरकार लगातार श्रम-विरोधी क़ानूनों को पास करवाती जा रही है।

हमें पिछले आन्दोलनों की कमियों से सबक़ लेते हुए एक बार फिर से एकजुट होकर बढ़ती बेरोज़गारी, वेतन कटौती, सुरक्षा उपायों में उल्लंघन, छँटनी, तालाबन्दी के ख़िलाफ़ निर्णायक संघर्ष करने की ज़रूरत है। अगर हम आन्दोलन को जुझारू और असरदार ढंग से आगे बढ़ाते हैं तो इससे रिको की ही नहीं बल्कि पूरी औद्योगिक पट्टी के मज़दूरों को ताक़त मिलेगी। आज ऑटो व औद्योगिक पट्टी के मज़दूरों की एकता बहुत ज़रूरी है। मालिक अपने इलाक़े व पेशे के अनुसार एकजुट हैं लेकिन मज़दूर अभी पूरी तरह से एकजुट नहीं है। इससे पहले मानेसर के ऑटोमोबाइल कलपुर्जों को बनाने कम्पनी एफ़सीसी कल्च 90 ठेका मज़दूरों और मुंजाल शोवा में 300 ठेका मज़दूरों की भी छँटनी की जा चुकी है। मज़दूरों की तरफ़ से कोई भी निर्णायक और असरदार कार्रवाई नहीं हो पाने की वजह से मालिक का पलड़ा मज़दूर से भारी है। हम लोग संख्याबल में ज़्यादा हैं। गुड़गाँव-मानेसर-धारूहेड़ा-बावल की ऑटोबेल्ट में, 60 लाख (6 मिलियन) मज़दूर काम करते हैं और भारत में ऑटो सेक्टर में इस वक़्त क़रीब एक करोड़ चालीस लाख (14 मिलियन) मज़दूर हैं। लेकिन ये सभी मज़दूर आपस में बँटे हुए हैं जिसकी वजह से अगर ऐसी ही स्थिति रही तो आने वाले दिनों में बेरोज़गारी, औद्योगिक दुर्घटनाओं, वेतन कटौती, छँटनी, तालाबन्दी बढ़ती ही जायेगी।

ऑटोमोबाइल इण्डस्ट्री कॉण्ट्रैक्ट वर्कर्स यूनियन (ए.आई.सी.डब्ल्यू.यू.) की तरफ़ से शाम और सूरज ने रिको के मज़दूरों का समर्थन किया और साथ ही देशव्यापी प्रदर्शन के मौक़े पर धारूहेड़ा (ज़िला रेवाड़ी, हरियाणा) में प्रदर्शन किया गया। रिको कम्पनी के मज़दूर यूनियन की तरफ़ से राजकुमार और ए.आई.सी.डब्ल्यू.यू. की तरफ़ से शाम ने बात रखी और कम्पनी के पास धारूहेड़ा औद्योगिक क्षेत्र में प्रदर्शन किया गया।

– शाम मूर्ति

सत्ता द्वारा ग़रीबों की झुग्गियाँ तोड़ने का आदेश!

केन्द्र व राज्य सरकार की तू-तू-मैं-मैं के बीच पिसती दिल्ली की मेहनतकश आबादी।

पिछली 31 अगस्त 2020 की देर शाम उच्चतम न्यायालय ने दिल्ली की कई लाख मेहनतकश आबादी के सर से छत छीनने का फ़रमान सुना दिया। उसी रोज़ सेवानिवृत्त होने वाले न्यायाधीश अरुण मिश्रा के अलावा बी.आर. गवई तथा कृष्णमुरारी की खण्डपीठ द्वारा जारी इस आदेश के मुताबिक़ दिल्ली में रेलवे पटरी के नज़दीक पड़ने वाली करीब 48,000 झुग्गियों को अगले 3 महीने के अन्दर तोड़ा जाना था। सौन्दर्यीकरण के नाम पर अचानक से आए इस फ़ैसले के बाद कई लाख लोगों के सामने कोरोना काल में बेघर होने का संकट सामने खड़ा था। न्यायालय द्वारा जारी किया गया आदेश लोगों की झुग्गियों को तोड़ने की बात करता है, किन्तु उसमें उनके पुनर्वास के बारे में एक शब्द भी नहीं कहा गया है। उसपर से तुर्रा यह कि इस आदेश के विरूद्ध स्टे ऑर्डर जारी करने का अधिकार किसी भी निचली अदालत या उच्च न्यायालय के दायरे से बाहर रखा गया था तथा किसी भी क़िस्म के राजनीतिक हस्तक्षेप को साफ़ तौर पर मना किया गया था।

इस मामले ने एक बार फिर यह बात साबित कर दिखाया है कि मेहनतकशों के लिए ज़िन्दा रहने का संवैधानिक अधिकार भी लफ़्फ़ाज़ी से अधिक कुछ भी नहीं होता है। 48000 झुग्गियों में बसने वाली मेहनतकश आबादी के सामने खड़े होने वाले संकट पर ज़रा भी ध्यान दिये बिना जारी यह आदेश इस व्यवस्था की सच्चाई को खोलकर सामने रखता है।

इन बस्तियों में रहने वाली अधिकांश आबादी रेहड़ी खोमचा लगाने, कल-कारख़ानों में काम करने, सफ़ाई कर्मचारी, भवन निर्माण क्षेत्र से जुड़े काम बेलदारी, चुनाई, पुताई, पीओपी आदि, तथा अन्य व्यापक असंगठित क्षेत्र से जुड़े कामों में लगी हुई है। महानगर की चमकीली आभा के पीछे इन्हीं मलिन झुग्गियों में रहने वालों का ख़ून- पसीना होता है, लेकिन महानगर के पास इनकी रिहायश का कोई प्रबन्ध नहीं होता है। यही कारण है कि ये लोग मजबूरी में रेलवे पटरी के किनारे बेहद दयनीय तथा जानलेवा स्थिति में जीवन जीने के लिए मजबूर हैं। उसपर भी जब-तब आने वाले सरकारी फ़रमान इनकी रिहायश का पुख़्ता इन्तज़ाम करने की बजाय इन्हें इनकी टूटी मड़ैया से भी बेदख़ल करते रहते हैं।

बर्जुआ न्याय व्यवस्था जो भ्रम बनाने का प्रयास करती है, यह आदेश उसे भी नंगा करता है। बुर्जुआ क़ानूनों के मुताबिक़ भी बिना पुनर्स्थापना या पुनर्वास योजना के रिहायशी झुग्गियों को नहीं उजाड़ा जा सकता है। राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र दिल्ली कानून (विशेष प्रावधान) (दूसरा संशोधन) अधिनियम, 2014 के तहत जो झुग्गी झोपड़ी बस्ती 1 जनवरी 2006 से पहले बनी है वह संरक्षित हैं और बिना पुनर्स्थापना या पुनर्वास के पर्याप्त इन्तज़ाम के नहीं हटायी जा सकती है। 2015 में दिल्ली उच्च न्यायालय ने भी रेलवे द्वारा झुग्गियों को तोड़ने के मामले में इस नियम को बिना किसी अपवाद के लागू करने का निर्देश दिया गया था। लेकिन समय-समय पर दिल्ली भर में बिना किसी सूचना के झुग्गियों को ज़मीन्दोज़ किया जाता रहा है। लोगों को अपने सामान तक को सुरक्षित रखने का मौका दिये बिना डण्डे के ज़ोर पर उन्हें बेदख़ल किया जाता रहा है। अब उच्चतम न्यायालय का आया यह आदेश साफ़ तौर पर दिखाता है कि इस व्यवस्था के द्वारा किसी भी मात्रा में जनता के हक़ में कही गई बात, झूठे आडम्बर से अधिक कुछ भी नहीं होती है। इसका असल काम डण्डे की जोर पर लोगों को दबा कर रखना है।

केन्द्र सरकार की ओर से रेलवे मंत्रालय ने उच्च्तम न्यायालय में हलफ़नामा दायर कर इस आदेश को लाने का काम किया था। वहीं दिल्ली की केजरीवाल सरकार ने प्रेस कॉन्फ्रेंस कर लफ़्फ़ाजी करने, अफ़वाहें फैलाने, लोगों को गुमराह करने तथा केन्द्र के साथ तू-तू-मैं-मैं की नौटंकी के अतिरिक्त कुछ नहीं किया। केजरीवाल ने 2015 के चुनाव के समय ही सबको पक्के मकान दिलाने के वायदा किया था। सत्ता में पाँच सालों तक बैठे रहने के बावजूद इस सरकार ने इस दिशा में कोई क़दम नहीं उठाया। फिर 2020 के चुनाव के समय भी उसी बेशर्मी से इस वायदे को दोहराया गया। इस वर्ष विधानसभा चुनाव में भाजपा और आप दोनों ने ही 'जहाँ झुग्गी वहीं मकान' योजना का लुकमा फेंका था, लेकिन सत्ता में बैठे इन

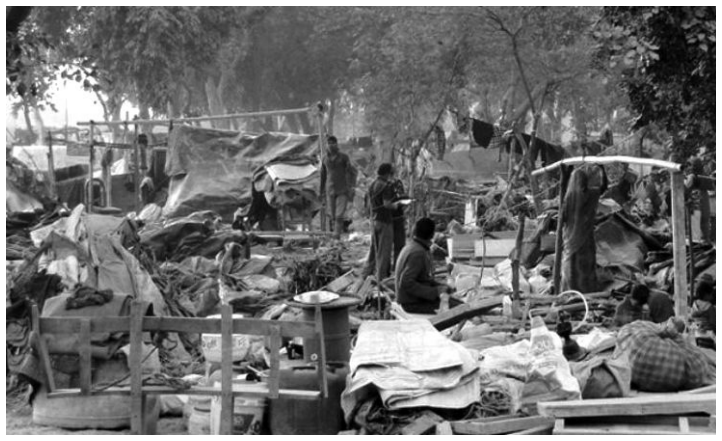

दलों के लिए ऐसी योजनाएँ जुमलेबाजी से अधिक कुछ भी नहीं।

देश की राजधानी दिल्ली की क़रीब आधी आबादी झुग्गियों में रहती है। दिल्ली नगर निगम ने उच्चतम न्यायालय में नगरपालिका कचरे का प्रबन्धन सम्बन्धित दायर एक हलफ़नामे में बताया था कि महानगर की 49 फ़ीसदी आबादी झुग्गी बस्तियों, अनधिकृत कॉलोनियों और 860 झुग्गी-झोपड़ी क्लस्टर में रहती है। नगर निगम का कहा था कि दिल्ली में लगभग चार लाख 20 हज़ार झुग्गियाँ हैं और हर झुग्गी में औसतन पाँच लोग रहते हैं। आज एक अनुमान के मुताबिक़ दिल्ली में करीब सात लाख झुग्गियाँ हैं। दिल्ली की अधिकांश बड़ी झुग्गियाँ तीस-तीस चालीस-चालीस साल पुरानी है। कई सरकारों ने यहाँ के वाशिंदों से पक्के रिहायश का इन्तज़ाम के वायदे से वोट लिए और उस वायदे की पोटली बनाकर यमुना में बहा दिया। बीच-बीच में ऊँट के मुँह में जीरा के अनुपात में इन्हें बसाया भी गया। लेकिन ज़्यादातर मामलों में झूठा आश्वासन दिया गया। कई इलाक़े ऐसे हैं जिनके बसावट के नाम पर एक विभाग द्वारा राशि आवंटित की गयी थी, किन्तु आगे कोई कार्रवाई नहीं हुई। दशकों से फाइल सरकारी विभागों के मेज़ों की दराजों में धूल फाँक रही है। कहीं पर झुग्गीवासी के नाम पर आवंटित फ़्लैटों को बेचारे ग़रीब सरकारी बाबुओं ने अपने नाम पर करा लिया।

रेलवे, डीडीए आदि अन्य सरकारी ज़मीनों पर बसे लोग कई सालों से इन पतों पर रहते हैं। सरकार का ही विभाग इन्हें यहाँ बिजली बेचता है, इनके इन पतों से मतदाता पहचान पत्र बनाया जाता है, इनके वोट से सरकारें बनती हैं, और फिर अचानक किसी दिन बुलडोजर चलाकर इनकी झुग्गियों को मिट्टी में मिला दिया जाता है। इन झुग्गियों को लोगों ने बड़ी मेहनत से उम्र भर की कमाई लगाकर बनाया या खरीदा होता है। इन बस्तियों तक कोई सरकारी सुविधा नहीं पहुँचती है। पीने के पानी की समस्या इन झुग्गियों में सबसे आम समस्या है। केजरीवाल की मुफ़्त बिजली और मुफ़्त पानी के ढोल की हक़ीक़त किसी भी झुग्गी बस्ती में जाकर देखी जा सकती है। इन बस्तियों में साफ़ पीने के पानी की मारामारी मची रहती है। गाहे-बगाहे होने वाली आगजनी का ख़तरा झुग्गी बस्तियों में लागतार बना रहता है। इन झुग्गी बस्तियों में जहाँ लोग मुर्गी के दड़बों से भी छोटे कमरों में रहते हैं, वहाँ अमूमन एक झुग्गी में शौचालय नहीं होता है। लोग बेहद ही गन्दे सामूहिक शौचालय, जो बीमारी का अड्डा होता है या खुले में शौच करने के लिए मजबूर होते हैं। दिल्ली में सबसे ज़्यादा बीमारियों के शिकार यही झुग्गी के लोग होते हैं। डेंगू चिकनगुनिया के फैलाव का सबसे ज्यादा ख़तरा इन्हीं बस्तियों में रहता है।

हमारा संघर्ष और हमारी माँगें

सुप्रीम कोर्ट के आए आदेश की चहुँओर आलोचना तथा नीचे से आम जनता के दबाव को, उनके संघर्ष की तैयारी को भाँपते हुए केन्द्र सरकार ने इस आदेश को लागू करने को अगले चार हफ़्ते के लिए टाल दिया। इसके पहले जगह-जगह रेलवे द्वारा नोटिस लगाया जा रहा था कि अमुक तारीख़ को झुग्गी तोड़ दी जाएगी। उस वक़्त तक कई झुग्गीवासियों को झुग्गी तोड़ने के आदेश के बारे में कोई जानकारी भी नहीं थी। नोटिसों में मात्र दो या तीन दिनों की मोहलत दी गई थी। दिल्ली के मानसरोवर, केशवपुरम इलाक़ों में झुग्गियों को तोड़ा भी गया। लेकिन हर जगह से लोगों ने प्रतिरोध कर अपनी मंशा ज़ाहिर कर दी। कुछ जगह पर लोगों ने उल्टा तोड़ने वालों को खदेड़ दिया। हालाँकि, कुछ जगह पर आदेश को चार हफ़्तों के लिए रोके जाने के बावजूद झुग्गियों को तोड़ा गया।

दिल्ली भर में आवास के माँग पर लोगों को संगठित कर रही दिल्ली आवास अधिकार अभियान की तरफ़ से भी केजरीवाल सरकार को रिहायश के पक्के इन्तज़ाम के वायदे को याद कराते हुए एक चेतावनी ज्ञापन सौंपा गया। ज्ञापन में पक्के आवास के अधिकार की माँग को स्पष्ट तौर पर रेखांकित किया गया था। ज्ञापन को लेकर एक प्रतिनिधिमंडल केजरीवाल के आवास पर मुख्यमंत्री से मिलने गया, किन्तु "आम आदमी" के पास आम लोगों से मिलने का वक़्त नहीं था। प्रतिनिधिमण्डल में कई झुग्गी इलाक़ों से लोग शामिल थे।

ज्ञापन सौंपे जाने से पहले दिल्ली आवास अधिकार अभियान के द्वारा तमाम प्रभावित झुग्गीवासियों को संगठित करने के मक़सद से अभियान चलाया गया। सीलमपुर, मानसरोवर, शाहदरा, शकूरबस्ती, पीरागढ़ी, नांगलोई, वजीरपुर, केशवपुरम आदि इलाक़ों में व्यापक पर्चा वितरण कर, नुक्कड़ सभाएँ कर, बैठकें कर लोगों का पक्के आवास के अधिकार के लिए आह्वान किया गया।

सवाल महज़ सरकार द्वारा झुग्गियों को तोड़ने को रोकने का नहीं है, बल्कि, मेहनतकश आबादी को झुग्गियों से निकालकर स्वस्थ, बेहतर, खुले और पर्याप्त रिहायश के इन्तज़ाम का है। झुग्गियों का कठिन अमानवीय हालात इन्सानी जीवन का तरीक़ा नहीं हो सकता है। दिल्ली आवास अधिकार अभियान पिछले पाँच सालों से दिल्ली में हर किसी के रिहायश की माँग को लेकर चलाया जा रहा है। इस अभियान का मानना है कि आवास का अधिकार हर नागरिक का मौलिक अधिकार होना चाहिए, तथा राज्य को हर किसी के रिहायश की गारण्टी सुनिश्चित करनी चाहिए।

कोरोना काल में सिडकुल (हरिद्वार) के मज़दूरों के तंग हालात

आर्थिक मन्दी और कोरोना महामारी के संकट के इस दौर में मज़दूरों की भयंकर बदहाली साफ़ तौर पर देखी जा सकती है। हरिद्वार स्थित सिडकुल औद्योगिक क्षेत्र में लॉकडाउन के बाद जबसे कारख़ाने खुले हैं, तबसे प्रतिदिन हर कारख़ाने के गेटों पर सौ-पचास-बीस बेरोज़गार मज़दूरों की भीड़ देखी जा सकती है। दिनभर मज़दूर छोटे-छोटे झुण्ड में इस कारख़ाने से उस कारख़ाने काम की तलाश में भटकते रहते हैं। सिडकुल में काम करने वाली अधिकतर आबादी प्रवासी मज़दूरों की है जो यू.पी.-बिहार के रहने वाले हैं। इनमें से अच्छी-ख़ासी आबादी ऐसे मज़दूरों की भी है जो पूरे परिवार के साथ रहते हैं। ये लोग लॉकडाउन में भी यहीं रहे, गाँव नहीं गये। मोदी सरकार द्वारा बिना किसी योजना के लॉकडाउन करने व हवा-हवाई योजनाओं के अलावा ग़रीबों-मज़दूरों के लिए कोई भी व्यवस्था जैसे राशन या रूम-किराये में रियायत न करने की वजह से यह प्रवासी मज़दूर आबादी रूम के किराये के क़र्ज़ में डूब गयी है।

एक तरफ़ महँगाई दूसरी तरफ़ बेरोज़गारी ने मज़दूरों के सामने जीवन के अस्तित्व का संकट खड़ा कर दिया है। लेकिन यह आबादी इस पूँजीवादी व्यवस्था की सीमा और इस हत्यारी मोदी सरकार के चरित्र को भी समझ रही है। बेरोज़गारी किस तरह हमेशा पूँजीपतियों के लिए फ़ायदेमन्द होती है, इसकी नंगी और गन्दी तस्वीर इस समय सिडकुल में देखी जा सकती है। इस औद्योगिक क्षेत्र में अनुमानतः 50 से 60 प्रतिशत आबादी स्त्री मज़दूरों की है। इस समय इस औद्योगिक क्षेत्र में 40 वर्ष से ऊपर की स्त्री मज़दूरों को कारख़ाने में काम पर लेने की मनाही है। जो पहले से काम पर लगी भी हैं उन्हें काम न होने के बहाने पहले रेस्ट दिया जाता है और फिर कारख़ाने से ही बाहर कर दिया जा रहा है। परिवार सहित रहने वाले प्रवासी मज़दूरों के लिए इससे और भी ज़्यादा संकट पैदा हो गया है क्योंकि महँगाई इतनी ज़्यादा और इतनी कम मज़दूरी में जब तक कम से कम परिवार के दो लोगों को काम न मिले, तब तक ख़र्चा चलाना भी मुश्किल हो गया है।

– बिगुल संवादादाता

मनरेगा मज़दूरों ने जान लिया है, हक़ लेना है, ठान लिया है

हरियाणा में 'क्रान्तिकारी मनरेगा मज़दूर यूनियन' पिछले लगभग डेढ़ साल से काम कर रही है। यूनियन के बैनर तले मज़दूरों के संघर्ष की बदौलत ही कलायत के आस-पास के गाँव चौशाला, रामगढ़, पिंजूपुरा, सिमला इत्यादि गाँवों में एक लम्बे संघर्ष के बाद बड़ी मुश्किल से काम चल पाया है। इन सभी गाँवों की अगर बात की जाये तो लगभग 7-8 सालों से हर जगह मनरेगा का काम बन्द पड़ा था, जो अब यूनियन के संघर्ष के बाद चालू हो चुका है।

इसी कड़ी में यूनियन के संघर्षों को देखते हुए गाँव फरल, तहसील पुण्डरी व ज़िला कैथल के मज़दूरों ने भी यूनियन के साथियों से सम्पर्क किया और अपने गाँव में मनरेगा का काम न चलने के कारणों को यूनियन के सामने विस्तार से रखा। इस गाँव में लगभग पिछले चार साल से मनरेगा का काम बन्द पड़ा था और मज़दूर काम की माँग को लेकर पिछले लम्बे समय से बीडीपीओ दफ़्तर के चक्कर काट-काटकर चप्पलें तुड़वाकर अपने-अपने घर बैठ चुके थे। इसी महीने यानी सितम्बर में फरल गाँव के ही विकास और सोनिया ने यूनियन को बताया कि उनको प्रशासन की तरफ़ से काम को लेकर आश्वासन लिखित व मौखिक रूप से कई बार मिल भी चुका है। लेकिन हर बार मज़दूरों को काम हाथ आने की बजाय सिर्फ़ और सिर्फ़ आश्वासन ही हाथ आता है, जिसे लेकर मज़दूर एक बार फिर अपने घरों को वापस आ जाते हैं। इसी दौरान यूनियन ने गाँव में मनरेगा का काम न चलने के कारणों की अच्छी तरह जाँच-पड़ताल करने के बाद गाँव फरल में ही मज़दूरों की एक मीटिंग बुलायी। इस मीटिंग में मनरेगा का काम न चलने के कारणों पर विस्तार से चर्चा की गई। इस मीटिंग में ही विकास और सोनिया की मदद से 11 सितम्बर को तहसील पुण्डरी में बीडीपीओ दफ़्तर पर सभी मज़दूरों को इकट्ठा करके प्रदर्शन करने का कार्यक्रम बनाया गया।

अब यूनियन के बैनर तले गाँव के सभी मज़दूरों ने इकट्ठा होकर 11 सितम्बर को तहसील पुण्डरी में बीडीपीओ दफ़्तर पर प्रदर्शन किया और बीडीपीओ को ज्ञापन सौंपा। अब यूनियन का बैनर और मज़दूरों की ताक़त को देखते हुए बीडीपीओ ने ज्ञापन लेने के साथ-साथ 10 दिन के अन्दर काम शुरू करवाने का आश्वासन भी दिया। आख़िरकार यूनियन के संघर्ष और मज़दूरों की एकजुटता के आगे प्रशासन को घुटने टेकने पड़े और 10 दिनों के अन्दर-अन्दर फरल गाँव के मनरेगा मज़दूरों को काम देना पड़ा। अब सभी मज़दूर 'अभी तो ली अँगड़ाई है! आगे ओर लड़ाई है!' का नारा बुलन्द हुए काम पर जा रहे है।

जैसाकि देखने में आ रहा है कि आज इस कोरोना महामारी के दौर में ग्रामीण मज़दूर आबादी भयंकर बेरोज़गारी का सामना कर रही है। ऐसे में अगर सरकार चाहे तो ग्रामीण मज़दूर आबादी को मनरेगा के तहत ही बहुत-सा काम उपलब्ध करवा सकती है। मगर अक्सर देखने मे आता है कि केन्द्र की मोदी सरकार और हरियाणा की खट्टर व दुष्यन्त सरकार मनरेगा के लिए सिर्फ़ घोषणाएँ ही करती हैं, उनको ज़मीन पर कहीं भी लागू करती नज़र नहीं आती। यह सब सरकारी आँकड़ों में भी देखा जा सकता है और ख़ुद प्रशासनिक अधिकारियों (कलायत बीडीपीओ दफ़्तर) का भी मानना है कि प्रत्येक गाँव में सिर्फ़ एक साल में 22 दिन ही काम बड़ी मुश्किल से चल पाता है। तो ऐसे हालातों में केन्द्र व राज्यों की घोषणाओं पर कितना विश्वास किया जा सकता है, यह हम सभी जानते हैं। ख़ैर, सरकारी आँकड़ों पर तो आज जितनी बात की जाए उतनी कम पड़ेगी। हम वापस क्रान्तिकारी मनरेगा मज़दूर यूनियन के संघर्ष की तरफ़ बढ़ते हैं।

यूनियन के बैनर तले चल रहे इस पूरे संघर्ष में मज़दूरों को यह सीखने का मौक़ा मिला कि अगर उन्हें अपनी माँगों पर प्रशासन को झुकाना है, तो उनकी फ़ौलादी एकजुटता ही एकमात्र वह ताक़त है जिसके बूते यह किया जा सकता है। इसी दौरान मज़दूरों को यह भी महसूस हुआ कि उनकी एकजुटता तभी बन सकती है जब उनके पास अपनी एक यूनियन होगी क्योंकि यूनियन ही वह प्लेटफ़ॉर्म हो सकता है, जिसके बैनर तले सभी मज़दूर एकजुट होकर अपने संघर्ष को आगे बढ़ा सकते हैं। अब इतना सब समझते हुए मनरेगा मज़दूरों ने अपनी ही तरफ़ से क्रान्तिकारी मनरेगा मज़दूर यूनियन से जुड़ने का प्रस्ताव भी रखा ताकि आगे होने वाले संघर्षों को यूनियन के बैनर तले लड़ा जा सके और अपनी यूनियन को मज़बूत किया जा सके। अब यूनियन के साथियों द्वारा गाँव फरल में यूनियन का काम हर दिन आगे बढ़ाया जा रहा है। आगे आने वाले समय मे 'क्रान्तिकारी मनरेगा मज़दूर' यूनियन केवल गाँव फरल में ही नहीं, बल्कि आस-पास के गाँवों को भी यूनियन से जोड़ने का प्रयास करेगी। यूनियन का मानना है कि मज़दूरों की आर्थिक व राजनीतिक माँगों पर संघर्ष करने के साथ-साथ यूनियन का मुख्य काम मज़दूरों के बीच राजनीतिक प्रचार-प्रसार होना बेहद ज़रूरी है। मज़दूरों में राजनीतिक चेतना का विकास करने के लिए ज़रूरी है कि उनके बीच क्रान्तिकारियों के विचारों का प्रचार-प्रसार और राजनीतिक पाठशालाओं का आयोजन किया जाए। मज़दूरों के महान नेता लेनिन के शब्दों में कहें तो यूनियन मज़दूरों की पहली पाठशाला होती है जहाँ पर एक मज़दूर की चेतना मज़दूर-चेतना से सर्वहारा-चेतना की तरफ़ बढ़ती है और वह अपनी वर्ग एकजुटता को अच्छे से समझता है।

मनरेगा मज़दूरों की माँगे निम्नलिखित हैं-

1. मनरेगा मे पूरे साल काम मिले और 770 रुपये प्रतिदिन की दिहाड़ी दी जाये।
2. काम न दे पाने की सूरत में मज़दूरों को रुपये 10000 बेरोज़गारी भत्ता प्रतिमाह दिया जाये।
3. कार्यस्थल पर साफ़ पीने के पानी व छाया की व्यवस्था की जाये।
4. जो महिलाएँ बच्चों को घर छोड़कर आती हैं उनके लिए पालना-घर की व्यवस्था की जाये।
5. मनरेगा मज़दूरों को प्राथमिक उपचार की मेडिकल किट मुहैया करवायी जाये। कोरोना के दौर में मास्क व सैनेटाइज़र उपलब्ध हों।
6. मज़दूरों के लिए काम के घण्टे आठ से घटाकर छह किये जायें।

मथुरा में साम्प्रदायिक आग भड़काने के काम में जुटी फ़ासिस्ट ताक़तें

अयोध्या में राममन्दिर बनने की शुरुआत हो चुकी है। लेकिन भारतीय राजनीतिक पटल पर राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के नेतृत्व में उभरी फ़ासीवादी राजनीति केवल अयोध्या में मन्दिर बनने से संतुष्ट नहीं होने वाली है। 1998 में वाजपेयी सरकार बनने के बाद संघ की फ़ासीवादी राजनीति के नये चरण की शुरूआत हुई थी। 2014 में मोदी सरकार के बनने के साथ यह राजनीति अपने शिखर पर पहुँच गयी है। यह सबकुछ ऐसे समय हो रहा है जब देश में बेरोज़गारी और भयंकर मुफ़लिसी छायी है और अमीरी और ग़रीबी की खाई बढ़ती जा रही है और दूसरी तरफ़ साम्प्रदायिक घटनाएँ, दंगें और नफ़रत सबसे भयानक स्तर पर फैली है।

2019 में सुप्रीम कोर्ट ने राम मन्दिर बनवाने का फ़ैसला दिया और मस्जिद के लिए अलग जगह आवण्टित कर दी और 2020 में नरेन्द्र मोदी ने कोरोना महामारी के बीच राममन्दिर का भूमि-पूजन भी कर दिया। पर यह राजनीति यहाँ ख़त्म नहीं होती है। कुछ लोगों ने कहना है कि अब आरएसएस के पास कोई मुद्दा नहीं बचा है। दरअसल भाजपा-आरएसएस के लिए राममन्दिर तमाम मुद्दों में बस एक मुद्दा है जिसके आधार पर हिन्दू-मुस्लिम आबादी के बीच दरार पैदा होती। राममन्दिर की जगह सीएए-एनआरसी हो या मथुरा का कृष्ण मन्दिर भाजपा संघ देश को साम्प्रदायिकता की आग में झोंकने के लिए ऐसे मुद्दे उठाती रहेगी। फ़ासीवाद निम्न-बुर्जुआ वर्ग का एक प्रतिक्रियावादी आन्दोलन होता है जो अन्ततोगत्वा बुर्जुआ वर्ग के हितों को साधता है क्योंकि उसका प्रमुख निशाना क्रान्तिकारी ताक़तें यानी मज़दूर वर्ग का हिरावल होता है; इसकी रणनीति एक नक़ली शत्रु खड़ा कर जनता को बरगलाने की होती है। हमें यह बात समझनी होगी कि जब तक कि मज़दूर आन्दोलन फ़ासीवाद के काले नाग को कुचल नहीं देता है तब तक फ़ासीवाद ख़ुद-ब-ख़ुद ख़त्म नहीं होने वाला है।

राममन्दिर भूमिपूजन के दौरान ही संघियों ने 'अयोध्या तो झाँकी है! काशी मथुरा बाक़ी है!' का अपना पुराना नारा फिर दोहराया । वास्तव में आरएसएस ने देशभर में ऐसी सैकड़ों जगहों को इंगित किया है। इस ओर क़दम बढाते हुए आरएसएस ने मथुरा में साम्प्रदायिक आग भड़काने का काम शुरू भी कर दिया है। हालाँकि सच तो यह है कि मथुरा में कृष्ण जन्मस्थान और ईदगाह के बीच विवाद कभी रहा ही नहीं है। हालिया कुछ महीनों से साम्प्रदायिक ताक़तों द्वारा राज्य के मौन समर्थन से मथुरा के शान्तिपूर्ण माहौल को बिगाड़ने के सचेतन प्रयास जारी है। मथुरा शहर में आम जनता के बीच कोई साम्प्रदायिक तनाव नहीं है, यहाँ की साझी संस्कृति शहर को काफ़ी ख़ूबसूरत बनाती है।

परन्तु बीते 23 सितम्बर को संघ के लग्गू-भग्गू संगठन हिन्दू आर्मी के 22 कार्यकर्ताओं ने ईदगाह की मस्जिद तोड़ने के लिए नारेबाज़ी की। पुलिस ने इन्हें गिरफ़्तार तो किया लेकिन उन्हें थाने से ही छोड़ दिया। घटना के बाद से ही स्थानीय समाचारपत्रों में वैमनस्य को बढ़ावा देने वाली साम्प्रदायिक खबरें लगातार आ रहीं हैं जिनके शीर्षक काफ़ी ज़हरीले हैं। हिन्दू आर्मी नाम के संगठन के कार्यकर्ता मूल रूप से मथुरा के निवासी भी नहीं थे। हमें तुरन्त ही मथुरा की आम जनता के बीच जाकर इन संघी गुबरैलों की हक़ीक़त को बेनक़ाब करना होगा और जनता के असल मुद्दों पर जुझारू एकजुटता बनाने का आह्वान करना होगा।

– बिगुल संवाददाता

फ़ैक्टरियों के भीतर से

उत्तरी हरियाणा में कुरुक्षेत्र-करनाल-कैथल को "धान का कटोरा" कहा जाता है और इस इलाक़े में सबसे ज़्यादा चावल-मिलें भी हैं। इन मिलों में बहुत से प्रवासी मज़दूर और स्थानीय मज़दूर काम करते हैं। काम के घण्टे बारह हैं, और दो शिफ़्ट में काम चलता है, एक महीने की तनख़्वाह लगभग 9000 होती है और कुछ लोगों की, ख़ासकर यूपी-बिहार से आए हुए मज़दूरों की, तनख़्वाह 9000 से भी कम होती है। इन मज़दूरों के ठेकेदार ही उनकी मेहनत में से लूटकर उनको और कम पैसे देते हैं।

इन फ़ैक्ट्रियों में बहुत सारे छोटे बच्चे भी काम करते हैं जिनकी तनख़्वाह दो हज़ार, पन्द्रह सौ, तीन हज़ार रुपये महीना होती है यानी बारह घण्टे के काम के बाद ख़ुद को दोबारा से काम के लिए तैयार करने में जो ख़र्च आता है, उसके लिए यह पैसा ऐसे ही ख़र्च हो जाता है, रही बात बचत की वह तो है ही नहीं, अपना पेट काटकर लोग बड़ी मुश्किल से एक-दो हज़ार रुपये प्रति महीना बचाकर अपने घर भेजते हैं।

इन फ़ैक्ट्रियों में किसी भी मज़दूर के चेहरे पर कभी मुस्कान नहीं दिखती। उनके काम करने की परिस्थितियाँ बहुत भयंकर हैं, हर जगह धूल उड़ती रहती है और उसी धूल के अन्दर इन लोगों की बेबसी इनको रहने के लिए मजबूर करती है।

सेफ़्टी उपकरण तो पूरी फ़ैक्ट्री में कहीं भी देखने को ही नहीं मिलते हैं। यहाँ मज़दूरों का मशीनों के साथ एक कम्पटीशन दिन-रात चलता रहता है जो रुकने का नाम नहीं लेता और मज़दूर ज़िन्दा लाशों की तरह एक स्थान से दूसरे स्थान पर आते-जाते रहते हैं।

पास के गाँव का ताऊ, जिसकी उम्र 40 थी, देखने में 65 साल का लगता है। वैसे तो फ़ैक्ट्री के अन्दर बहुत सारे मज़दूर अनपढ़ हैं, जिसकी वजह से उनका और ज़्यादा शोषण होता है और वे लोग लगे भी रहते हैं मगर उससे दो व्यक्तियों का काम लिया जाता था और वह उसको करता भी रहता था, उस धीमी मौत को वह आदमी देख कर भी नज़रअन्दाज़ कर रहा था बस सवाल था, रोटी का।

बिहार से आया हुआ एक दस साल का बहुत गोरा लड़का पूरा दिन ख़ाली बोरियाँ इधर से उधर ले जाते हुए दिखता है। तनख़्वाह थी, मात्र पन्द्रह सौ रुपए, यानी 50 हर रोज़। देखते ही देखते वह लड़का भी उन मशीनों के साथ कम्पटीशन में शामिल हो गया।

फ़ैक्ट्रियों की बॉयलर पर तो इतनी बुरी स्थिति है कि सारा दिन मज़दूरों के ऊपर छिलका गिरता रहता है और इन मिलों में मज़दूर एक पशु से भी भयंकर ज़िन्दगी बिताने के लिए मजबूर है। इन फ़ैक्ट्रियों के अन्दर गिद्ध भी लगातार मँडराते रहते हैं और वह लगातार मज़दूरों को चोंच मारते रहते हैं।

लेकिन वह दिन ज़रूर आयेगा जिस दिन यह ज़िन्दा लाश बना दी गयी आबादी फिर से जाग उठेगी और तोड़ देगी उस चुप्पी को।

– रमन

बाबरी मस्जिद विध्वंस मामले पर फ़ैसला, सभी दंगेबाज़ साम्प्रदायिक फ़ासीवादी हुए बरी

सीबीआई स्पेशल कोर्ट का न्याय 'अँधेर नगरी' की न्याय व्यवस्था को भी लज्जित करने वाला है!

लखनऊ की सीबीआई की स्पेशल कोर्ट ने अपने फ़ैसले में बाबरी मस्जिद विध्वंस मामले में नामज़द सभी जीवित 32 आरोपियों को दोषमुक्त करके मुक़दमे से बरी कर दिया है। कोर्ट के फ़ैसले के बाद न्यायपसन्द लोगों के ज़ेहन में नये सवाल ये उभर रहे हैं कि यदि यह कुकर्म पूर्वनिर्धारित-पूर्वनियोजित नहीं था तो फिर आडवाणी के नेतृत्व में संघी गिरोह की रथयात्राएँ किस चीज़ के लिए निकाली जा रही थी? यदि बाबरी मस्जिद को गिराया जाना तय नहीं था तो हज़ारों की तादाद में गैन्ती, छैनी, हथौड़े, दुर्मच, रस्से, कस्सी, फावड़े और तसले इत्यादि घटनास्थल तक कैसे पहुँच गये? यदि मस्जिद गिराने वाली यह भीड़ इतनी ही अराजक थी तो संघी शिविरों में कार सेवा के नाम पर ढाँचे को गिराने की ट्रेनिंग किनकी हो रही थी? यदि मंचासीन भगवा गिरोह उन्मादी भीड़ को शान्त कर रहा था तो मस्जिद को टूटता देख "एक धक्का और दो" जैसे नारे लगाकर प्रफुल्लित हो मंच पर धमाचौकड़ी कौन कर रहा था? यदि 'लिब्रहान आयोग' की रिपोर्ट से लेकर 'राम के नाम' जैसी उत्कृष्ट दस्तावेज़ी फ़िल्म तक में शामिल तमाम ऑडियो-वीडियो सबूत दोषसिद्धि के लिए अपर्याप्त हैं तो फिर घुमाने-फिराने की बजाय सीधे यही क्यों नहीं कह दिया जाता कि संघी-साम्प्रदायिक हिंसा, हिंसा न भवति! यह भी विडम्बना ही है कि मस्जिद विध्वंस मामले में क्रिमिनल कोर्ट का फ़ैसला सिविल कोर्ट के भी बाद में आया है। दोनों ही फ़ैसलों के लिये 28 साल का लम्बा इन्तज़ार करना पड़ा जिस दौरान बहुत से अपराधी तो पहले ही दुनिया से रुख़सत हो चुके हैं। और दोनों ही फ़ैसलों ने सामाजिक ताने-बाने को मिले भयंकर ज़ख़्मों को कुरेदने का काम ही किया है।

28 साल पहले, 1528 में बाबर के एक सिपहसालार मीर बाक़ी द्वारा बनवायी गयी बाबरी मस्जिद को साम्प्रदायिक फ़ासीवादियों के नेतृत्व में तैयार हुई एक उन्मादी भीड़ ने गिरा दिया था। इस घटना के तुरन्त बाद पूरा भारतीय उपमहाद्वीप दंगों की आग में धू-धू कर जल उठा था। दंगों में हज़ारों बेगुनाह लोग मारे गये थे, लाखों लोग विस्थापित हुए थे और करोड़ों-अरबों रुपये की सम्पत्ति नष्ट हुई थी। बाबरी मस्जिद विध्वंस ने भारतीय समाज के पूरे ताने-बाने और मेहनतकश जनता की एकजुटता को भयंकर आघात पहुँचाया था। यह कुकृत्य भारत के तथाकथित लोकतंत्र के इतिहास का भयंकरतम अपराध था। उस समय सुप्रीम कोर्ट ने न केवल भाजपा की कल्याण सिंह की सरकार की भूमिका पर सवाल उठाये थे बल्कि तमाम इनपुट होने के बावजूद ऐसा होने देने के लिए ख़ुद की असंगत भूमिका को भी स्वीकार किया था। बाद में बाबरी मस्जिद विध्वंस पर बने लिब्रहान आयोग के द्वारा तो संघ, भाजपा, विश्व हिन्दू परिषद, शिवसेना, बजरंग दल समेत तमाम संघी समाजविरोधी ताक़तों और इनके सरगनाओं की भूमिका पर सवाल खड़े किये गये थे और मस्जिद को गिराये जाने को बहुत बड़ा षड्यंत्र स्वीकारा था। यह अलग बात है कि लिब्रहान आयोग की ख़ोजबीन इस मामले से जुड़े न्याय में रद्दी बराबर भी काम नहीं आयी।

बाबरी मस्जिद विध्वंस मामले में अलग-अलग एफ़आईआर दर्ज हुई थी। इस आपराधिक कुकृत्य को अंजाम देने के लिए संघी गिरोह के विभिन्न संगठनों-मंचों समेत शिवसेना के 49 लोगों के ख़िलाफ़ नामज़द एफ़आईआर दर्ज की गयी थी। और यह केस सीबीआई को सौंपा गया था। अब 28 साल पुरानी घटना और 28 साल पुराने केस में लखनऊ की स्पेशल सीबीआई कोर्ट ने फ़ैसला सुनाते हुए लालकृष्ण आडवाणी, मुरली मनोहर जोशी, उमा भारती, कल्याण सिंह, नृत्यगोपाल दास, साध्वी ऋतम्भरा सहित सभी जीवित 32 आरोपियों को बरी कर दिया है। बाक़ी 17 लोग न्याय व्यवस्था की सुस्ती-पस्ती के चलते कुदरत के हाथों मौत का शिकार हो गये थे जैसा भविष्य में इन 32 के साथ भी होने का निश्चित ही है!

स्पेशल कोर्ट का अपने फ़ैसले में कहना है कि बाबरी विध्वंस सुनियोजित नहीं था। कोर्ट ने कहा कि अराजक तत्वों ने ढाँचा गिराया था और आरोपी नेताओं ने इन लोगों को रोकने का प्रयास किया था। स्पेशल कोर्ट ने अपने फ़ैसले में यह भी कहा है कि आरोपियों के खिलाफ पर्याप्त सबूत नहीं हैं तथा सीबीआई की तरफ़ से जुटाये गये ऑडियो और वीडियो सबूतों की प्रमाणिकता को जाँचा नहीं जा सकता है तथा न ही वे स्पष्ट हैं। मतलब इस फ़ैसले में कोर्ट ने न केवल अपराधियों को अपराधमुक्त कर दिया बल्कि उन्हें सद्भाव स्थापित करने वाला शान्ति दूत भी करार दे दिया। और यह किया कैसे? वैदिक हिंसा, हिंसा न भवति की तर्ज पर! सीबीआई की स्पेशल कोर्ट ने 'नीरक्षीर विवेक' करते हुए दूध का दूध और पानी का पानी तो नहीं किया है किन्तु काले को सफ़ेद और सफ़ेद को काला ज़रूर कर दिया है। इस मामले में फ़ैसला सुनाने वाले सीबीआई कोर्ट के स्पेशल जज एसके यादव एक साल पहले ही रिटायर होने वाले थे अब वे और भी अधिक सुखद भविष्य की उम्मीद के साथ शान्ति से रिटायर हो जायेंगे!

बाबरी मस्जिद विध्वंस का कुकर्म फ़ासीवादी गिरोह हेतु चुनावी राजनीति में संजीवनी बूटी सिद्ध हुआ है। चन्द सीटों पर सिमटने वाली भाजपा के लिए साम्प्रदायिक हिंसा के इस नये चरण के बाद सीटों की बहार आती गयी और यह प्रक्रिया 2014 से लेकर 2019 तक दिखती है। बाबरी मस्जिद विध्वंस के मामले में आये बाक़ी तमाम फ़ैसले भी "बहुसंख्यक की तथाकथित भावनाओं" के पक्ष में ही आये हैं। यह एक लम्बे दौर में संघ परिवार द्वारा न्यायपालिका समेत सभी पूँजीवादी निकायों के व्यवस्थित ढंग से संस्थागत फ़ासीवादीकरण का ही नतीजा और परिणति है। भारत में 1980 के दशक में पब्लिक सेक्टर पूँजीवाद अपने सन्तृप्ति बिन्दु तक पहुँच गया था और व्यवस्था का संकट बेरोज़गारी, ग़रीबी और महँगाई के रूप में और भी तेज़ी के साथ फूटने लगा था। मेहनतकश जनता का ध्यान समस्याओं के असली कारणों से भटकाने की नये सिरे से शुरुआत भी तभी हो गयी थी। असल में साम्प्रदायिक फ़ासीवादी उभार का यह अभूतपूर्व रूप से नया चरण था। इसी समय मन्दिर आन्दोलन शुरू हुआ और व्यवस्था के प्रति उभरे लोगों के ग़ुस्से को आपसी नफ़रत में तब्दील करके जनता को भयंकर दंगों की आग में झोंक दिया गया। फ़ासीवादी सत्ता कमेरों के एक-एक हक़ को छीनकर उनके ख़ून-पसीने को पूँजीपतियों की तिजोरियों में भरने का ही काम करती है और यही काम आज भारत में भी हो रहा है। जाति-मज़हब से ऊपर उठकर मेहनतकश जनता की एकजुट ताक़त ही फ़ासीवाद को हरा सकती है और हरायेगी भी।

निश्चित रूप से बाबरी मस्जिद विध्वंस के सरगनाओं को बरी करने वाला सीबीआई की स्पेशल कोर्ट का फ़ैसला न्यायबोध के मुँह पर करारा तमाचा जड़ता है और धर्मनिरपेक्ष की भावना का मज़ाक़ बनाता है। इतिहास इस बात को याद रखेगा और हम उम्मीद करते हैं कि भविष्य में दोषियों को नहीं तो उनके राजनीतिक-वैचारिक वंशजों को सजा ज़रूर मुक़र्रर होगी।

उत्तर प्रदेश में आतंक के राज्य को क़ानूनी जामा पहनाने के लिए आया काला क़ानून

– अमित

एक ऐसी संस्था की कल्पना करें जो जब चाहे शक के आधार पर किसी को भी गिरफ़्तार कर सकती है; जिसको गिरफ़्तारी के लिए किसी वारण्ट या मजिस्ट्रेट की अनुमति की ज़रूरत नहीं है; जिसका हर सदस्य हर समय ड्यूटी पर माना जाएगा; जिसका 'कोई भी सदस्य' किसी भी समय किसी को भी गिरफ़्तार कर सकता है; जिसके ख़िलाफ़ सरकार की इजाज़त के बिना अदालत भी किसी मामले को संज्ञान में नहीं ले सकती है; जिसकी सेवाएँ कोई निजी संस्था भी ले सकती है। ये बातें सुनकर आपको कुख़्यात फ़ासिस्ट संस्था गेस्टापो की याद आ सकती है, लेकिन हम गेस्टापो की बात नहीं कर रहे हैं। हम बात कर रहे हैं 'उत्तर प्रदेश विशेष सुरक्षा बल (यूपीएसएसएफ़)' की, जिसका गठन उत्तर प्रदेश की योगी सरकार करने जा रही है।

2 अगस्त को उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा 'उत्तर प्रदेश विशेष सुरक्षा बल एक्ट, 2020' के तहत 'उत्तर प्रदेश विशेष सुरक्षा बल (यूपीएसएसएफ़)' के गठन की अधिसूचना जारी की गयी। इस अधिसूचना की धारा दस के अनुसार, किसी कर्मचारी को अपना कार्य करने से रोकने, परिसरों की सम्पत्ति को नुक़सान पहुँचाने, किसी परिसर में काम करने वाले कर्मचारी के जीवन को ख़तरा पैदा करने आदि की आशंका के आधार पर ही उठाया जा सकता है। इसी अधिसूचना में आगे कहा गया है कि ऐसे किसी भी व्यक्ति को बिना वारण्ट गिरफ़्तार करने, उसके घर की तलाशी लेने आदि का अधिकार इस बल के पास है। ज़ाहिर है कि जो बातें ऊपर लिखी गयी हैं, ये वही आरोप हैं जो आम तौर पर किसी भी जनान्दोलन को कुचलने, उसमें शामिल लोगों को गिरफ़्तार करने पर लगाये जाते हैं। पिछले दिनों सीएए-एनआरसी-विरोधी आन्दोलन के बाद उत्तर प्रदेश सरकार ने इसी तरह के आरोप लगाकर जगह-जगह आन्दोलन में शामिल होने वाले लोगों को नोटिस भेजना और उनकी सम्पत्ति की कुर्की करके नीलाम करवाना शुरु कर दिया। वारण्ट तो पहले भी देश की बहुत बड़ी आबादी के लिए फ़िल्मों में देखी गयी चीज़ थी, लेकिन अब इन सबको क़ानूनी जामा पहनाया जा रहा है। ऊपर से इस काले क़ानून में एक और ख़तरनाक प्रावधान यह है कि प्राइवेट कम्पनियाँ भी पैसे देकर एसएसएफ़ की सेवाएँ ले सकेंगी। यानी राज्य सरकार ही नहीं, बल्कि कोई निजी कम्पनी भी अपने विरोधियों पर जब चाहे छापे डलवा सकती है और उन्हें गिरफ़्तार करवा सकती है।

जैसे-जैसे पूँजीवादी व्यवस्था अपने भयंकर संकट के दलदल में और गहरे धँसते जा रही है, वैसे-वैसे इसका असली चरित्र और ज़्यादा उजागर होता जा रहा है। देखा जाये तो भारतीय राज्य ने अपने नागरिकों पर डण्डा चलाने में कभी भी अपने ही द्वारा बनाए गए नियम-क़ानूनों की परवाह नहीं की। पुलिस मशीनरी के अलावा बीएसएफ़, सीआरपीएफ़, आरएएफ़ जैसे अर्द्धसैनिक बलों का ताना-बाना राज्यसत्ता के नाख़ून और बघनख़ के रूप में पहले से ही मौजूद हैं जिनका कथित तौर पर आन्तरिक सुरक्षा के लिए इस्तेमाल किया जाता है, लेकिन इनका मुख्य काम जनान्दोलनों को कुचलना और आम जनता में दहशत पैदा करना है। लेकिन उत्तर प्रदेश की योगी सरकार इससे भी चार क़दम आगे बढ़कर यूपीएसएसएफ़ का गठन करने जा रही है, जिसके पास असीमित अधिकार हैं।

आज़ादी के बाद से भारत के सत्ताधारी भूरे साहबों ने अपने अंग्रेज़ पुरखों की परम्परा को और आगे बढ़ाने का काम किया। आज़ादी के तुरन्त बाद तेलंगाना में अपने ही नागरिकों के ख़िलाफ़ सेना उतारकर आने वाले दिनों का साफ़ संकेत दे दिया गया था। उसके बाद से पंतनगर, हाशिमपुरा, भवानीपुर, तूतीकोरिन जैसे हत्याकाण्डों की फ़ेहरिस्त बहुत लम्बी है। कश्मीर और उत्तर-पूर्व के राज्यों में आर्म्ड फ़ोर्सेज स्पेशल पॉवर्स एक्ट (अफ़स्पा) जैसे क़ानून पहले से दुनिया के सबसे बड़े लोकतंत्र की सच्चाई उजागर करने के लिए काफ़ी थे।

उत्तर प्रदेश में पुलिस को पहले भी किसी तरह की क़ानूनी प्रक्रिया, मजिस्ट्रेट, कोर्ट-कचहरी के झंझट में पड़ने की ज़रूरत नहीं थी। मार्च 2017 से लेकर जुलाई 2020 के बीच प्रदेश में छः हज़ार से ज़्यादा एनकाउण्टर हो चुके हैं। झटपट न्याय देने के नाम पर आम जनता के बीच में एक ट्रेण्ड को स्थापित किया जा रहा है। मॉब-लिंचिंग के अपराधियों को माला पहनाने वाली पार्टी की सरकार ने अपराधियों पर कार्रवाई के नाम पर लोगों के घर ढहाने, दूर-दराज़ के रिश्तेदारों-परिचितों तक पर 'सख़्त कार्रवाई' करते हुए आने वाले समय में हर तरह के कृत्य को न्यायोचित ठहराने की ज़मीन तैयार कर रही है।

पहले से मौजूद यूएपीए, एनएसए, टाडा, पोटा जैसे क़ानूनों का इस्तेमाल किस तरह से किया जाता है, यह हाल ही में डॉ. कफ़ील के मामले में देखा जा चुका है। जो सरकार कुलदीप सिंह सेंगर जैसे अपराधी को बचाने की हरसम्भव कोशिश करती है, चिन्मयानन्द जैसे अपराधी को बचाने के लिए जी-जान लगा देती है, वह अगर विशेष सुरक्षा बल का गठन कर रही है तो समझा जा सकता है कि उसके निशाने पर कौन-से "अपराधी" हैं।

सरकार की ओर से तर्क दिया जा रहा है कि इस फ़ोर्स का गठन महत्वपूर्ण संस्थानों और इमारतों आदि की सुरक्षा के लिए किया जा रहा है, लेकिन यह तर्क लोगों की आँखों में धूल झोंकने की एक हास्यास्पद कोशिश है। इस काम के लिए सीआईएसएफ़ जैसी फ़ोर्स देश में पहले से मौजूद है और इमारतों की सुरक्षा के लिए ऐसी शक्तियों की क़तई ज़रूरत नहीं है। इसे मुख्यमंत्री आदित्यनाथ का "ड्रीम प्रोजेक्ट" बताया जा रहा है। जिस सरकार के मुखिया का सपना अपने राज्य के नागरिकों के बुनियादी लोकतांत्रिक अधिकार भी छीन लेना हो, वह सरकार कभी भी जनहितैषी नहीं हो सकती।

वास्तव में पूरे देश में आज फ़ासिस्ट ताक़तों का नंगा नाच चल रहा है। व्यवस्था का हर खम्भा आज फ़ासिस्ट ताक़तों की जेब में है। देश भर में जनपक्षधर बुद्धिजीवियों, सामाजिक कार्यकर्ताओं की फ़र्ज़ी गिरफ़्तारियाँ हो रही हैं। दिल्ली में दंगें कराने वाले असली अपराधी छुट्टा घूम रहे हैं और लोगों को एकजुट करने वाले, सामाजिक कार्यकर्ताओं पर फ़र्ज़ी मुक़दमे लगाए जा रहे हैं। लेकिन इतिहास गवाह रहा है कि हथियारों के बड़े-बड़े जखीरे जनता के समुद्र में डूब जाते हैं। मेहनतकश जनता की ताक़त के संगठित होने पर इन फ़ासिस्टों का भी वही हश्र होगा जो अतीत में हिटलर और मुसोलिनी का हुआ था।

कृषि-सम्बन्धी तीन विधेयक : मेहनतकशों का नज़रिया

(पेज 1 से आगे)

2.5 प्रतिशत का कमीशन मिलता है। पंजाब और हरियाणा में इस कमीशन से इन आढ़तियों ने पिछले वर्ष 2000 करोड़ रुपये कमाये हैं। अक्सर धनी किसान व कुलक ही आढ़ती व मध्यस्थ व्यापारी की भूमिका में भी होते हैं, सूदख़ोर की भूमिका में भी होते हैं, और निम्न मँझोले और ग़रीब किसानों से लाभकारी मूल्य से काफ़ी कम दाम पर उत्पाद ख़रीदते हैं और उसे लाभकारी मूल्य पर बेचकर और साथ ही कमीशन के ज़रिये मुनाफ़ा कमाते हैं।

इसके अलावा, राज्य सरकारों को भी ए.पी.एम.सी. मण्डी में होने वाली बिकवाली पर कर प्राप्त होता है, जैसे कि पंजाब में धान और गेहूँ पर 6 प्रतिशत, बासमती चावल पर 4 प्रतिशत और कपास और मक्का पर 2 प्रतिशत शुल्क लिया जाता है। पिछले वर्ष पंजाब सरकार को इससे 3500 से 3600 करोड़ रुपये का राजस्व प्राप्त हुआ था। पंजाब और हरियाणा के किसान संगठनों का कहना है कि यदि यह राजस्व प्राप्त नहीं होगा तो राज्य सरकार गाँव के अवसंरचनागत ढाँचे को बेहतर नहीं बना पायेगी और किसानों के लिए अपने उत्पाद की बिकवाली और परिवहन और भी मुश्किल हो जायेगा। लेकिन महाराष्ट्र के किसान संगठनों के नेताओं जैसे कि राजू शेट्टी और अनिल घनवत का कहना है कि इस राजस्व से वैसे भी ग्रामीण अवसंरचनागत ढाँचे में कोई ख़ास निवेश नहीं होता था और इसके हट जाने पर भी निजी निवेशक कृषि उत्पाद के विपणन के तंत्र को चुस्त-दुरुस्त करने के लिए आवश्यक अवसंरचना में निवेश करेंगे क्योंकि यह उनके लिए भी ज़रूरी होगा।

दूसरी बात यह है कि सभी किसान संगठन ए.पी.एम.सी. मण्डियों के एकाधिकार ख़त्म होने पर अलग से आपत्ति नहीं कर रहे हैं बल्कि सिर्फ़ इसलिए आपत्ति कर रहे हैं क्योंकि यह लाभकारी मूल्य को सुनिश्चित करती थी। इसीलिए अखिल भारतीय किसान सभा के विजू कृष्णन ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि *सरकार यदि लाभकारी मूल्य को किसानों का क़ानूनी अधिकार बना दे ताकि कोई निजी ख़रीदार भी लाभकारी मूल्य देने के लिए बाध्य हो, तो उन्हें ए.पी.एम.सी. मण्डी के एकाधिकार के समाप्त होने से कोई दिक़्क़त नहीं है।*

दूसरे विधेयक का नाम है 'कृषक (सशक्तिकरण व संरक्षण) कीमत आश्वासन और कृषि सेवा पर करार विधेयक' जिसके अनुसार किसान अब अपने उत्पाद को ए.पी.एम.सी. मण्डी के लाइसेंसधारी व्यापारी के ज़रिये बेचने के लिए बाध्य नहीं हैं और साथ ही वे किसी भी कम्पनी, स्पॉन्सर, बिचौलिये के साथ किसी भी उत्पाद के उत्पादन के लिए सीधे क़रार कर सकते हैं। इसके लिए उन्हें ए.पी.एम.सी. के लाइसेंसधारी आढ़तियों या व्यापारियों के ज़रिये जाने की आवश्यकता नहीं है। इसके तहत उत्पादन शुरू होने से पहले ही उत्पाद की तय मात्रा, तय गुणवत्ता व क़िस्म तथा तय क़ीमतों के आधार पर किसान और किसी भी निजी स्पांसर, कम्पनी, आदि के बीच क़रार होगा। इस क़रारनामे की अधिकतम अवधि उन सभी उत्पादों के मामले में पाँच वर्ष होगी जिनके उत्पादन में पाँच वर्ष से अधिक समय नहीं लगता है। इसके ज़रिये अनिवार्य वस्तुओं के स्टॉक पर रखी गयी अधिकतम सीमा को भी हटा दिया गया है। यानी अब तमाम अनिवार्य वस्तुओं की जमाखोरी पर किसी प्रकार की रोक नहीं होगी, जोकि कालान्तर में इन वस्तुओं जैसे कि आलू, प्याज़ आदि की क़ीमतों को बढ़ा सकता है।

अपने आप में ठेका खेती के आने से आम मेहनतकश आबादी को कोई विशेष नुक़सान नहीं होने वाला है। छोटा और मँझोला किसान पहले भी ठेका खेती की व्यवस्था का शिकार था। फ़र्क़ बस यह था कि अभी तक ठेका खेती की व्यवस्था में उसे धनी किसान व आढ़ती लूट रहे थे। अब इस लूट के मैदान को बड़ी इज़ारेदार पूँजी के लिए साफ़ कर दिया गया है। इसके नतीजे अलग-अलग देशों और अलग-अलग प्रान्तों में अलग-अलग सामने आये हैं। पश्चिम बंगाल में पेप्सी कम्पनी के साथ आलू के उत्पादन की ठेका खेती में किसानों को प्रति किलोग्राम 5 रुपये तक ज़्यादा मिल रहे हैं। वहीं आन्ध्र प्रदेश में चन्द्रबाबू नायडू के मुख्यमंत्रित्व में जो ठेका खेती का मॉडल लागू किया गया, उसमें धनी और मंझोले किसानों को हानि हुई। ग़रीब व निम्न-मँझोला किसान तो पहले भी धनी व उच्च मध्यम किसानों द्वारा ठेका खेती व अन्य तरीक़ों से लूटा ही जा रहा था। वह अब बड़ी पूँजी द्वारा लूटा जायेगा। **इसलिए ठेका खेती पर केन्द्रित इस दूसरे विधेयक से जो मूल परिवर्तन होने वाला है, वह केवल इतना है कि ग़रीब व निम्न-मँझोले किसानों की व्यापक आबादी की लूट पर धनी किसानों, उच्च मध्यम किसानों व आढ़तियों का एकाधिकार ख़त्म हो जायेगा और खेती के क्षेत्र में कॉरपोरेट पूँजी के बड़े पैमाने पर प्रवेश के साथ धनी किसान, कुलक व फ़ार्मरों के लिए होड़ में टिकना मुश्किल हो जायेगा।**

तीसरा विधेयक यानी 'आवश्यक वस्तु (संशोधन) विधेयक' सीधे तौर पर जमाख़ोरी और काला बाज़ारी को बढ़ाने की छूट देता है क्योंकि इसमें कई आवश्यक वस्तुओं का मनमाना स्टॉक रखने पर लगायी गयी सीमा को युद्ध जैसी आपात स्थितियों के अतिरिक्त समाप्त कर दिया गया है। यह तीसरा विधेयक सीधे तौर पर मेहनतकश जनता के हितों के विरुद्ध जाता है। **यह वह विधेयक है जो कि सीधे-सीधे आम मेहनतकश जनता को प्रभावित करता है और उसके वर्ग हितों को नुक़सान पहुँचाता है और जिसका विरोध किये जाने की सख़्त ज़रूरत है। लेकिन आप पायेंगे कि धनी किसानों व कुलकों के राजनीतिक संगठनों के नेतृत्व में जो मौजूदा किसान आन्दोलन जारी है, वह इस तीसरे विधेयक पर ज़्यादा कुछ नहीं बोल रहा है।**

इन विधेयकों का रिश्ता सार्वजनिक वितरण प्रणाली को सुचारू रूप से बहाल करने की माँग से भी जुड़ा हुआ है। केन्द्र सरकार पहले से ही इस कोशिश में है कि वह सार्वजनिक वितरण प्रणाली की ज़िम्मेदारी से पूरी तरह से पिण्ड छुड़ा ले और यह ज़िम्मेदारी राज्य सरकारों पर डालने की वकालत कर रही है। ज़ाहिर है, इस प्रस्ताव का अर्थ ही यह है कि सार्वजनिक वितरण प्रणाली को पूर्ण रूप से समाप्त कर दिया जाय जो कि व्यापक मेहनतकश आबादी की खाद्य सुरक्षा को समाप्त कर देगा। इसलिए **समूचे मज़दूर वर्ग, अर्द्धसर्वहारा वर्ग तथा ग़रीब व निम्न मध्यम किसान वर्ग की एक माँग यह भी बनती है कि सार्वजनिक वितरण प्रणाली को सुचारू रूप से बहाल किया जाये।**

लुब्बेलुबाब यह कि मौजूदा किसान आन्दोलन जिन वजहों से कृषि विधेयकों का विरोध कर रहा है, वह मूलत: और मुख्यत: लाभकारी मूल्य के सवाल पर केन्द्रित है। इसकी मुख्य चिन्ता यह है कि इन विधेयकों के साथ लाभकारी मूल्य की व्यवस्था समाप्त हो जायेगी। इसलिए मुख्य रूप से गाँव के लेकिन साथ ही शहर के मज़दूर वर्ग और अर्द्धसर्वहारा वर्ग और गाँव के ग़रीब किसान व अर्द्धसर्वहारा वर्ग के लिए प्रमुख प्रश्न यह बनता है कि लाभकारी मूल्य पर उसका क्या नज़रिया होना चाहिए।

लाभकारी मूल्य की व्यवस्था : किसका फ़ायदा, किसका नुक़सान?

लाभकारी मूल्य की व्यवस्था का लाभ मुख्यत: 4 से 6 प्रतिशत धनी किसानों व कुलकों को होता है। इसे आँकड़ों से समझना ज़रूरी है, इसलिए कुछ आँकड़ों पर निगाह डाल लेते हैं। अभी हम पहले खेतिहर मज़दूरों की बात नहीं करेंगे और केवल किसानों पर केन्द्रित करेंगे।

2013 की नेशनल सैम्पल सर्वे रिपोर्ट के अनुसार देश के एक-तिहाई किसानों के पास 0.4 हेक्टेयर से कम ज़मीन है। उनकी कुल आमदनी का केवल छठा हिस्सा, यानी 16 प्रतिशत ही खेती से आता है और अन्य 84 प्रतिशत उजरती श्रम यानी मज़दूरी से आता है। इसके अलावा एक-तिहाई किसानों के पास 0.4 हेक्टेयर से 1 हेक्टेयर ज़मीन है। इनकी कुल आमदनी का 40 प्रतिशत खेती से आता है और अन्य 60 प्रतिशत मुख्यत: उजरती श्रम से आता है। इन दोनों को मिला दिया जाये, तो कुल किसान आबादी का 70 प्रतिशत बनता है।

इन किसानों को लाभकारी मूल्य मिलता ही नहीं है। क्यों नहीं मिलता है, इस पर थोड़ा आगे आयेंगे। दूसरी अहम बात यह है कि ये किसान मुख्य रूप से कृषि उत्पादों के ख़रीदार हैं, न कि विक्रेता। नतीजतन, लाभकारी मूल्य में होने वाली किसी भी बढ़ोत्तरी से इन्हें फ़ायदा नहीं बल्कि नुक़सान होता है। वजह यह है कि लाभकारी मूल्य के बढ़ने के साथ हमेशा ही कृषि उत्पादों की क़ीमतों और साथ ही अपने उत्पादन के लिए उन पर निर्भर औद्योगिक उत्पादों की क़ीमतों में भी बढ़ोत्तरी होती है।

आँकड़ों के अनुसार, इन 70 प्रतिशत किसानों का अपने उपभोग पर ख़र्च इनकी आमदनी से ज़्यादा रहता है। नतीजतन, अपने खेतों पर काम करने के लिए चालू पूँजी (वर्किंग कैपिटल) के लिए ये ऋण पर निर्भर रहते हैं। यह ऋण इन्हें वित्तीय संस्थाओं से नहीं मिलता क्योंकि बैंकों व अन्य वित्तीय संस्थाओं के ऋण तक इनकी पहुँच ही नहीं है। फिर इन्हें ये ऋण कौन देता है? ये ऋण इन्हें धनी किसान, कुलक व आढ़ती देते हैं। अक्सर धनी किसान ही कृषि उत्पादों का व्यापारी व आढ़ती भी होता है और इन ग़रीब किसानों के लिए लुटेरा सूदख़ोर भी। **चूँकि 70 प्रतिशत बेहद ग़रीब किसान इनके ऋणों तले दबा होता है, इसलिए ये धनी किसान, कुलक व आढ़ती इन्हें लाभकारी मूल्य व बाज़ार क़ीमत से बेहद कम दाम पर अपने उत्पाद को उन्हें बेचने के लिए बाध्य करते हैं। इसके अलावा, ग़रीब और निम्न मध्यम किसान इसलिए भी सीधे मण्डियों तक पहुँच नहीं रखते क्योंकि उसके लिए परिवहन की सुविधा तथा पूँजी की आवश्यकता होती है, जोकि इनके पास होती ही नहीं और वे अपने उत्पाद के विपणन के लिए इसलिए भी ग्रामीण क्षेत्र के पूँजीपति वर्ग यानी धनी किसान, कुलक, आढ़तियों व सूदखोरों पर निर्भर करते हैं। इस उत्पाद को ये धनी किसान, कुलक व आढ़ती लाभकारी मूल्य पर बेचते हैं और साथ ही आढ़ती इस लाभकारी मूल्य के ऊपर कमीशन भी कमाते हैं।**

देश के 92 प्रतिशत किसानों के पास 2 हेक्टेयर से कम ज़मीन है। यानी कि ग़रीब और बेहद ग़रीब व परिधिगत किसान आबादी को जोड़ दें, तो कुल किसान आबादी का 92 प्रतिशत बनता है। ये वे किसान हैं जिन्हें लाभकारी मूल्य का या तो कोई लाभ नहीं मिलता और नुक़सान होता है, या फिर ज़्यादा से ज़्यादा इसके बेहद छोटे उच्चतम हिस्से को कुछ नगण्य लाभ मिलता है। ये वे किसान हैं जो कृषि उत्पाद, मुख्यत: खाद्यान्न के ख़रीदार हैं, न कि विक्रेता। इन्हें लाभकारी मूल्य और उसमें होने वाली बढ़ोत्तरी से कुछ भी हासिल नहीं होता है, उल्टे नुक़सान होता है।

फिर लाभकारी मूल्य से लाभ किसे होता है? इस पर भी तथ्यों को देख लेते हैं।

देश के कुल किसानों में से केवल 4.1 प्रतिशत किसान हैं जिनके पास 4 हेक्टेयर या उससे ज़्यादा ज़मीन है। इनकी आमदनी का तीन चौथाई हिस्सा खेती से आता है। बाक़ी भी कमीशन व सूदखोरी आदि से ही आता है, उजरती श्रम से कम ही आता है। यानी इनकी घरेलू अर्थव्यवस्था खेती से आने वाली आमदनी पर टिकी हुई है। याद रखें, ये आम तौर पर वे किसान हैं, जो उजरती श्रम का शोषण करके ही खेती कर सकते हैं। ये स्वयं अपने और अपने परिवार के श्रम के बूते खेती नहीं करते। वास्तव में, ज़्यादातर मामलों में वे स्वयं खेत में श्रम करते ही नहीं हैं और इनके खेतों में उत्पादक श्रम पूरी तरह से उजरती श्रम करने वाले खेत मज़दूर या ग़रीब किसान होते हैं। ये वह वर्ग है जो कोई कर नहीं देता है, जिन्हें सभी क़र्ज़ माफ़ी की योजनाओं का लाभ मिलता है और जो लाभकारी मूल्य की व्यवस्था के लाभार्थी हैं। इन्हें "अन्नदाता" कहना एक भद्दा मज़ाक़ है। अगर ये धनी किसान व कुलक अन्नदाता हैं, तो रिलायंस गैसदाता है, लिबर्टी जूतादाता है, टाइटन घड़ीदाता है, इत्यादि। यह तर्क वही है जो नरेन्द्र मोदी ने दिया है: कि पूँजीपति समृद्धि पैदा करता है। सच यह है कि खेतिहर मज़दूर और ग़रीब किसान देश के अन्नदाता हैं और धनी किसान और कुलक इन मेहनतकश वर्गों की श्रमशक्ति को लूटने वाले परजीवी वर्ग हैं।

शान्ता कुमार कमेटी की रपट के अनुसार देश के सभी किसानों में से केवल 5.8 प्रतिशत किसान ही लाभकारी मूल्य पर अपने उत्पाद को बेच पाते हैं और ये भी अपने उत्पाद का 14 से 35 प्रतिशत ही लाभकारी मूल्य पर बेच पाते हैं। वजह यह है कि लाभकारी मूल्य का भी पूरा लाभ केवल धनी किसान व कुलक ही उठा पाते हैं, न कि उच्च मध्यम व मध्यम किसान।

अब देखते हैं कि **लाभकारी मूल्य के बढ़ने का मेहनतकश आबादी पर क्या असर पड़ता है।**

2016 में अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष ने एक रपट पेश की जिसे सज्जाद चिनॉय, पंकज कुमार और प्राची मिश्रा ने लिखा था। यह रपट भारत में लाभकारी मूल्य की व्यवस्था और कृषि उत्पाद की क़ीमतों पर विस्तार से चर्चा करती है। इसके अनुसार, लाभकारी मूल्य के बढ़ने का सबसे ज़्यादा नुक़सान ग्रामीण और शहरी मज़दूर वर्ग और ग़रीब किसानों को होता है। वजह यह है कि जब भी लाभकारी मूल्य बढ़ता है तो खाद्यान्न महँगा होता है और साथ ही वे औद्योगिक उत्पाद भी महंगे होते हैं, जो अपने उत्पादन के इनपुट यानी कच्चे माल के तौर पर कृषि उत्पादों का उपयोग करते हैं। ज़ाहिर है ऐसे औद्योगिक मालों के दायरे में बड़े पैमाने पर वे वस्तुएं आती हैं, जो व्यापक मेहनतकश आबादी ख़रीदती है। **नतीजतन, एक ओर खाद्यान्न की क़ीमतें बढ़ती हैं और दूसरी ओर मज़दूरों-मेहनतकशों द्वारा ख़रीदे जाने वाले ग़ैर-खेती उत्पादों की क़ीमतों में भी वृद्धि होती है।**

खाद्यान्न की माँग में एक हद तक ही लचीलापन होता है, इसलिए बढ़ती क़ीमतों के बावजूद उनकी माँग एक स्तर से नीचे नहीं गिर सकती है। लेकिन अन्य वस्तुओं की माँग में अधिक लचीलापन होता है और नतीजतन उनकी माँग में गिरावट आती है। **इन सबका नतीजा यह होता है कि मज़दूरों और आम मेहनतकश आबादी के परिवारों के ख़र्च में खाद्यान्न पर ख़र्च होने वाला हिस्सा अपने आप में तो कम होता है, लेकिन अन्य वस्तुओं व सेवाओं पर होने वाले ख़र्च की तुलना में बढ़ता है। सरल शब्दों में कहें तो एक ओर आम मेहनतकश आबादी पहले से कम भोजन का उपभोग करती है और उसकी भोजन सुरक्षा घटती है, मगर फिर भी वह अपनी**

(पेज 9 पर जारी)

कृषि-सम्बन्धी तीन विधेयक : मेहनतकशों का नज़रिया

(पेज 8 से आगे)

आमदनी का पहले से ज़्यादा बड़ा हिस्सा भोजन पर ख़र्च कर रही होती है और नतीजतन, अन्य वस्तुओं और सेवाओं का उपभोग वह पहले से कम करती है, जिसके कारण इन वस्तुओं और सेवाओं की कुल घरेलू माँग में भी कमी आती है।

इसका नतीजा भी यह होता है कि मुनाफ़े की दर के संकट की शिकार पूँजीवादी अर्थव्यवस्था घरेलू माँग के सिमटने के कारण संकट के भँवर में और भी गहरी फंस जाती है, क्योंकि उत्पादित मालों का न बिक पाना (वास्तवीकरण का संकट) अपने आप में संकट का कारण नहीं होता, लेकिन पहले से मौजूद मुनाफ़े की औसत दर के गिरने के संकट को बढ़ावा देता है। अन्त में, इसकी क़ीमत भी मज़दूर वर्ग ही चुकाता है क्योंकि निवेश की दर इस संकट के कारण गिरती है और मज़दूर वर्ग को छँटनी व तालाबन्दी और नतीजतन बढ़ती बेरोज़गारी और घटती औसत मज़दूरी का सामना करना पड़ता है।

औद्योगिक पूँजीपति वर्ग और कृषक पूँजीपति वर्ग के बीच अन्तरविरोध और मज़दूर वर्ग की अवस्थिति

खाद्यान्न की क़ीमतों और खेती के उत्पादों पर अपने उत्पादन के लिए निर्भर औद्योगिक उत्पादों की क़ीमतों में बढ़ोत्तरी औद्योगिक पूँजीपति वर्ग के लिए भी बुरे शकुन के समान होती है। यह एक ओर औसत मज़दूरी पर बढ़ोत्तरी का दबाव पैदा करती है और वहीं दूसरी ओर उन औद्योगिक उत्पादों की कुल माँग में कमी लाती है, जो कि मज़दूर वर्ग और आम मेहनतकश आबादी ख़रीदती है, यानी कि तमाम ग़ैर-टिकाऊ उपभोक्ता सामग्रियाँ।

औद्योगिक पूँजीपति वर्ग के लिए भी यह अच्छा नहीं होता है क्योंकि एक ओर उसके द्वारा उत्पादित ग़ैर-टिकाऊ उपभोक्ता सामग्रियों की माँग पहले से घटती है और वास्तवीकरण, यानी अपना माल न बेच पाने की समस्या पैदा होती है और दूसरी ओर औद्योगिक मज़दूर वर्ग की औसत मज़दूरी बढ़ाने का दबाव पैदा होता है। **निश्चित तौर पर, मज़दूरों को बेची जाने वाली ग़ैर-खेती वस्तुओं और सेवाओं की माँग में कमी अपने आप में पूँजीवादी संकट पैदा नहीं करती है (क्योंकि पूँजीवादी संकट का मूल मुनाफ़े की औसत दर के गिरने का संकट है जो कि पूँजीपति वर्ग की आपसी ख़रीद में कमी आने में अभिव्यक्त होता है, जिसका बड़ा हिस्सा उत्पादन के साधनों की ख़रीद-फ़रोख़्त होता है), लेकिन वे पूँजीवादी संकट को तीव्र करती हैं।** औसत मज़दूरी में बढ़ोत्तरी मुनाफ़े की औसत दर को और भी घटाती है क्योंकि कुल उत्पादित मूल्य में यदि मज़दूरी का हिस्सा बढ़ता है तो मुनाफ़े का हिस्सा सापेक्षिक रूप से घटता है। एक ओर पूँजी के बढ़ते आवयविक संघटन के कारण और दूसरी ओर औसत मज़दूरी में बढ़ोत्तरी के दबाव के कारण पूँजीवादी आर्थिक संकट पैदा होता है और मज़दूरों द्वारा ख़रीदे जाने वाले औद्योगिक उत्पादों की माँग में कमी के कारण उसके सामने वास्तवीकरण का जो संकट पैदा होता है, वह इस संकट को और भी तीव्र बना देता है।

औसत मज़दूरी बढ़ाने के लिए पैदा होने वाले दबाव के बावजूद औद्योगिक पूँजीपति वर्ग मज़दूर वर्ग की औसत मज़दूरी को बढ़ने से रोकने का हर सम्भव प्रयास करता है, जिसका नतीजा मज़दूर वर्ग को भुगतना पड़ता है। **लेकिन अगर खाद्यान्नों व खेती के उत्पादों की क़ीमतें बढ़ती रहती हैं और इसकी वजह से उन औद्योगिक उत्पादों (जिन्हें मज़दूर ख़रीदते हैं) की क़ीमतें भी बढ़ती हैं जिनका कच्चा माल खेती के उत्पादों से आता है, तो फिर पूँजीपति वर्ग को एक सीमा के बाद मज़दूरी को बढ़ाना ही पड़ता है क्योंकि ऐसी हालत में मज़दूर वर्ग काम करने लायक़ हालत में ही नहीं रह पायेगा। वह अपनी श्रमशक्ति का पुनरुत्पादन नहीं कर पायेगा। इससे समाज में असन्तोष बढ़ता है और विस्फोटक स्थिति की तरफ़ जा सकता है। ऐसा सामाजिक संकट कुछ अन्य पूर्वशर्तों के पूरा होने पर राजनीतिक संकट में भी तब्दील हो सकता है। इसलिए भी पूँजीपति वर्ग को ऐसी स्थितियों में मज़दूरी बढ़ानी पड़ सकती है।**

इतिहास गवाह है कि औद्योगिक व वित्तीय पूँजीपति वर्ग द्वारा खेती के उत्पादन तथा उसके उत्पादों के व्यापार के क्षेत्र के उदारीकरण, यानी उसे पूर्ण रूप से बाज़ार की शक्तियों के हवाले किये जाने से खेती के क्षेत्र में भी एकाधिकार बढ़ता है। बड़ी कॉरपोरेट पूँजी तथा धनी किसानों व कुलकों के वर्ग के *एक हिस्से को* उससे लाभ ही होता है। निश्चित तौर पर, इससे धनी व उच्च मध्यम किसानों का भी एक छोटा हिस्सा बरबाद होता है या सामाजिक-आर्थिक पदानुक्रम में नीचे जाता है। लेकिन ग़रीब किसानों और खेतिहर मज़दूरों की व्यापक आबादी के लिए ऐसे उदारीकरण से पहले की व्यवस्था भी कोई विशेष लाभदायक नहीं होती है। इस प्रकार के उदारीकरण का उसके लिए मुख्य असर यही होता है कि उसे लूटने और खसोटने वाला प्रमुख वर्ग बदल जाता है। उसकी लूट पहले भी जारी होती है और बाद में भी और पूँजीवादी व्यवस्था के भीतर इसे ख़त्म किया ही नहीं जा सकता है। वह धनी किसानों व कुलकों द्वारा खेतिहर उत्पादन व खेती के उत्पाद के व्यापार की व्यवस्था में भी लुट और बरबाद हो रहा होता है और बड़ी कारपोरेट पूँजी के इस क्षेत्र में प्रवेश के बाद भी उसकी नियति लुटना और उजड़ना ही होता है।

इसलिए लाभकारी मूल्य की व्यवस्था को बनाये रखने या उसे बढ़ाने या ए.पी.एम.सी. मण्डियों की व्यवस्था को ज्यों का त्यों बरकरार रखने या न रखने का मसला ग्रामीण खेतिहर पूँजीपति वर्ग और बड़े एकाधिकारी कॉरपोरेट पूँजीपति वर्ग के बीच का विवाद है। इसमें ग्रामीण खेतिहर मज़दूरों, ग्रामीण ग़ैर-खेतिहर मज़दूरों, ग़रीब व निम्न मँझोले किसानों, शहरी औद्योगिक व ग़ैर-औद्योगिक सर्वहारा वर्ग को धनी किसानों व कुलकों या कॉरपोरेट पूँजीपति वर्ग का साथ देने की कोई आवश्यकता नहीं है।

धनी किसान व कुलक अचानक "मज़दूर-किसान एकता" का हिमायती क्यों हो गये हैं?

पहली बात तो यह है कि किसान *विशेष तौर पर* पूँजीवादी समाज में कोई एक जैसा वर्ग नहीं होता है। सबसे पहले यह पूछना पड़ता है कि हम किस किसान की बात कर रहे हैं। क्या हम उन 86 प्रतिशत ग़रीब व सीमान्त किसानों की बात कर रहे हैं जो कि सवा हेक्टेयर से भी कम ज़मीन के मालिक हैं और मुख्य रूप से अपने जीविकोपार्जन के लिए उजरती श्रम पर निर्भर हैं, या फिर उन किसानों की बात कर रहे हैं जो कि 4 हेक्टेयर से अधिक भूमि के मालिक हैं और लाभकारी मूल्य का फ़ायदा पाते हैं और अच्छा-ख़ासा राजनीतिक असर और दबदबा रखते हैं।

इस दबदबे की शुरुआत कैसे हुई? इस पर भी एक नज़र डाल लेना उपयोगी होगा। 1960 में तथाकथित हरित क्रान्ति के बाद भारत में धनी किसानों व कुलकों-फार्मरों का एक विचारणीय आकार का वर्ग अस्तित्व में आया। इसमें धनी काश्तकार किसान भी शामिल थे। इस वर्ग के अस्तित्व में आने के बाद 1970 के दशक में इसका राजनीतिक प्रतिनिधित्व भी पूँजीवादी राजनीति में बढ़ने लगा। इसका अपनी माँगों के लेकर दबाव क्रमिक प्रक्रिया में बढ़ता गया। इसी दौर में चरण सिंह और देवी लाल जैसे नेता धनी किसानों व कुलकों के इस वर्ग के हितों का प्रतिनिधित्व कर रहे थे और उनकी उपस्थिति को राष्ट्रीय राजनीतिक पटल पर महसूस किया जाने लगा।

1980 के दशक की शुरुआत तक खेती के क्षेत्र में सरकारी नीति का ज़्यादा ध्यान खेती में सार्वजनिक निवेश के ज़रिये अवसरंचनागत ढाँचे को खड़ा करना था। इस समय तक सिंचाई व खेती के अन्य अवसंरचनागत ढाँचों में सार्वजनिक निवेश द्वारा बेहतरी पर ज़ोर था। वास्तव में, समूचे भारतीय पूँजीवादी विकास के पथ में ही 1980 के दशक की शुरुआत तक सरकारी निवेश द्वारा पूँजीपतियों के लिए एक अवसरंचना खड़ा करने पर ज़ोर था। जब एक दफ़ा निजी पूँजीपति वर्ग उद्योग की दुनिया में भी अपने पाँवों पर खड़ा हो गया और एक अवसरंचनागत ढाँचा खड़ा हो गया तो फिर पूँजीवादी राज्यसत्ता ने एक क्रमिक प्रक्रिया में अर्थव्यवस्था में उदारीकरण की शुरुआत कर दी। **खेती के क्षेत्र में यह प्रक्रिया थोड़ा अलग तरीक़े से घटित हुई, हालाँकि मूल तर्क वही था।**

हरित क्रान्ति के बाद धनी किसानों व कुलकों-फार्मरों का एक अच्छे-ख़ासे आकार का वर्ग सामने आया। इसके बाद खेती की अवसरंचना में निवेश की बजाय सरकारी नीति के केन्द्र में लाभकारी मूल्य निश्चित करने पर ज़ोर बढ़ गया। 1980 के दशक के अन्त तक कृषि उत्पाद की सरकारी ख़रीद का लगभग 70 प्रतिशत हिस्सा हरियाणा और पंजाब से आने लगा था। इस नीतिगत परिवर्तन के साथ खेती के आधारभूत ढाँचे में सार्वजनिक निवेश में कमी आने लगी और पूरा ज़ोर लाभकारी मूल्य की व्यवस्था पर आ गया। उस समय खेती के क्षेत्र में पूँजी संचय भारतीय पूँजीपति वर्ग की आवश्यकता थी और इसके लिए इस व्यवस्था की आवश्यकता थी। जब यह नीति परिवर्तन हुआ तो उसका सबसे नकारात्मक असर ग़रीब और निम्न मध्यम किसान पर पड़ा जो कि सिंचाई आदि के लिए मानसून पर निर्भर थे। धनी किसान व कुलक सिंचाई के लिए मानसून पर उस हद तक निर्भर नहीं थे और भूजल के दोहन पर निर्भर कर सकते थे। रियायती दरों पर बिजली ने इसे धनी किसानों और कुलकों के लिए और भी सुगम बना दिया। कृषि में पूँजीवादी विकास व पूँजी संचय और इसके लिए एक खेतिहर पूँजीपति वर्ग का विस्तार उस दौर में भारतीय पूँजीवाद की ज़रूरत थी और खेतिहर पूँजीपति वर्ग और औद्योगिक-वित्तीय पूँजीपति वर्ग के बीच का यह क़रार इसी ज़रूरत की ही अभिव्यक्ति था।

आज के दौर में भारत के एकाधिकारी पूँजीपति वर्ग की ज़रूरतें बदल चुकी हैं। वैश्विक संकट के दौर में भारतीय खेती में भी संकट का एक दौर शुरू हुआ। **इस संकट के दौर में भी देश की समूची किसान आबादी के ऊपर के 4 प्रतिशत धनी किसानों व कुलकों का ज़्यादा नुक़सान नहीं हुआ है, बल्कि ज़्यादातर मामलों में फ़ायदा ही हुआ है। वे अब तक लाभकारी मूल्य के तंत्र के बूते अपने पूँजी संचय को जारी रखने में कामयाब रहे हैं।** इस संकट के पूरे दौर में, यानी 2004 से 2016 के बीच भी, भारतीय धनी किसानों व कुलकों द्वारा पॉवर टिलरों की ख़रीद में तीन गुना व ट्रैक्टरों की ख़रीद में ढाई गुना की बढ़ोत्तरी हुई है। दूसरे शब्दों में, भारत के ग्रामीण खेतिहर पूँजीपति वर्ग द्वारा पूँजी संचय कमोबेश ठीकठोक ढंग से जारी रहा है और खेती में निवेश की उनकी दर और क्षमता में कुल मिलाकर बढ़ोत्तरी ही हुई है। **फिर कृषि के संकट के कारण आत्महत्या करने वाले किसान कौन हैं? ये ज़्यादातर ग़रीब व पट्टे पर ज़मीन लेकर खेती करने वाले खेतिहर मज़दूर व अर्द्धसर्वहारा हैं, जोकि हमेशा ही ऋण तले दबे रहते हैं।**

आज जब लाभकारी मूल्य व सरकारी मण्डियों की व्यवस्था इस धनी किसान व कुलक वर्ग से छीनी जा रही है, तो वह अचानक "मज़दूर-किसान एकता" का समर्थक बन गया है! आइए देखते हैं कि अभी हाल ही में और पहले भी यह धनी किसान व कुलक वर्ग खेतिहर मज़दूरों और ग़रीब किसानों के साथ क्या बर्ताव करता रहा है।

हाल ही में लॉकडाउन के शुरू होने के बाद पंजाब और हरियाणा में प्रवासी खेतिहर मज़दूरों की संख्या में बेहद कमी आ गयी थी। इसके कारण खेतिहर मज़दूरों द्वारा श्रमशक्ति की आपूर्ति में बेहद कमी आ गयी। इस आपूर्ति में कमी आने के कारण नैसर्गिक तौर पर खेतिहर मज़दूरों की मज़दूरी में बढ़ोत्तरी होने लगी। **ऐसे में, पंजाब और हरियाणा के कई गाँवों में धनी किसानों, उच्च मध्यम किसानों व कुलकों ने बाक़ायदा अपनी पंचायतों, खापों व सभाओं में अधिकतम मज़दूरी तय की। किसी भी किसान को इससे ज़्यादा मज़दूरी देने की इजाज़त नहीं थी और न ही गाँव के किसी खेत मज़दूर को कहीं और जाकर काम करने की इजाज़त थी। अगर वह जाता है तो उसका बहिष्कार किया जायेगा! यानी, गाँव के खेत मज़दूरों को धनी किसानों द्वारा तय मज़दूरी पर काम करने के लिए बाध्य किया गया। उस समय मज़दूर-किसान एकता का नारा धनी किसानों व कुलकों के संगठनों को याद नहीं आया था।**

धनी किसानों व कुलकों ने खेत मज़दूरों के लिए न्यूनतम मज़दूरी व अन्य श्रम अधिकारों को सुनिश्चित करने की माँगों का हमेशा विरोध किया है। श्रम क़ानून एक पूँजीवादी व्यवस्था में *कम-से-कम औपचारिक तौर पर* राज्यसत्ता द्वारा दिया जाने वाला एक प्रकार का संरक्षण है, ठीक उसी प्रकार जैसे लाभकारी मूल्य धनी किसानों व कुलकों को राज्यसत्ता द्वारा दिया जाने वाला एक संरक्षण है, हालाँकि ये दो अलग प्रकार के संरक्षण हैं। **धनी किसान व कुलक अपने लिए तो राज्यसत्ता से संरक्षण चाहते हैं, लेकिन ग़रीब किसान व खेत मज़दूर यदि अपने लिए श्रम क़ानूनों के रूप में संरक्षण की माँग करते हैं, तो उसका विरोध करते हैं। क्या मौजूदा किसान आन्दोलन चला रहे तमाम किसान संगठन इस माँग को स्वीकार करेंगे कि सभी खेत मज़दूरों को भी क़ानूनी तौर पर साप्ताहिक छुट्टी, आठ घण्टे का कार्यदिवस, न्यूनतम मज़दूरी, दोगुनी दर से ओवरटाइम का भुगतान आदि प्राप्त हो? क्या मौजूदा आन्दोलन की माँगों में वे इन माँगों को शामिल करेंगे और इन्हें प्राथमिकता देंगे? नहीं!**

तो फिर इन धनी किसानों व कुलकों के मंचों से आज अचानक जो "मज़दूर-किसान एकता" का नारा उठाया जा रहा है, उसका मतलब क्या है? कुछ भी नहीं! यह धनी किसानों और कुलकों की माँगों के लिए ग़रीब किसानों व खेत मज़दूरों को उनके ही वर्ग हित के ख़िलाफ़ इकट्ठा करना है। **यह भी जगजाहिर है कि मौजूदा आन्दोलन की तमाम रैलियों व प्रदर्शनों में स्वयं धनी किसान व कुलक तो कम ही जाते हैं, लेकिन वे ग़रीब, निम्न मध्यम किसानों व खेत मज़दूरों को भेजने का प्रबन्ध कर देते हैं। यानी उनकी माँगों के लिए चल रहे आन्दोलन में भी लाठी खाने और जेल जाने का काम ग़रीब, निम्न मध्यम किसानों व खेत मज़दूरों को सौंप दिया जाता है।**

एक ओर गाँवों में धनी किसानों, सूदखोरों, आढ़तियों पर अपनी निर्भरता के कारण और दूसरी ओर अपनी स्वतंत्र वर्ग चेतना व वर्ग संगठन के अभाव में गाँव के सर्वहारा

(पेज 10 पर जारी)

कृषि-सम्बन्धी तीन विधेयक : मेहनतकशों का नज़रिया

और अर्द्धसर्वहारा तथा ग़रीब व निम्न मध्यम किसान धनी किसानों और कुलकों की उन माँगों के लिए चल रहे आन्दोलन में जाते भी हैं, जोकि उनके ख़िलाफ़ जाते हैं। कुछ को यह ग़लतफ़हमी भी होती है कि यदि लाभकारी मूल्य बढ़ेगा तो उन्हें भी अपनी उपज का बेहतर दाम मिलेगा या बेहतर मज़दूरी मिलेगी, हालांकि आनुभविक तौर पर देखें तो ऐसा कोई 'ट्रिकल डाउन' होता नहीं है। यह भी नवउदारवादी 'ट्रिकल डाउन' सिद्धान्त का एक कुलक संस्करण मात्र ही है।

ऐसे में ज़रूरत यह है कि इन ग़रीब व निम्न मध्यम किसानों तथा खेत मज़दूरों को धनी किसानों व कुलकों के संगठनों के राजनीतिक नेतृत्व और प्रभाव से अलग किया जाय। उन्हें उनके वर्ग हितों के प्रति सचेत बनाना और उनके अलग वर्गीय संगठनों का निर्माण आज गाँवों में क्रान्तिकारी संगठन के कार्य की एक बुनियादी ज़रूरत है। उनकी मूल माँग रोज़गार की है और उन्हें रोज़गार गारण्टी के लिए ही लड़ना चाहिए। साथ ही, खेत मज़दूरों को न्यूनतम मज़दूरी, साप्ताहिक छुट्टी, आठ घण्टे के कार्यदिवस, दोगुनी दर से ओवरटाइम के भुगतान, ई.एस.आई.-पी.एफ. के अधिकारों के लिए संघर्ष करना चाहिए। गाँव के ग़रीबों की तात्कालिक माँगें आज यही बनती हैं।

न तो उनमें छोटी जोत की किसानी को बचाने का नारा दिया जा सकता है (जो कि उनका खून ही चूसती रहती है और देती कुछ नहीं है, बस लेती जाती है); यह एक प्रतिक्रियावादी रूमानी नारा होगा। जैसा कि लेनिन ने कहा था, कम्युनिस्टों को ग़रीब किसानों को सच बताना चाहिए न कि उन्हें किसी भ्रम में जीने का आदी बनाना चाहिए। चाहे कुछ भी कर लिया जाय, पूँजीवादी व्यवस्था के रहते छोटी जोत की खेती का कोई भविष्य नहीं है। कुछ आंकड़ों के आइने में इस सच्चाई को देखते हैं।

2001 से 2011 के बीच ही खेतिहर मज़दूरों की संख्या में भारत में 35 प्रतिशत की बढ़ोत्तरी हुई। ये बढ़ोत्तरी मुख्यत: ग़रीब व निम्न मध्यम किसानों के तबाह होने से हुई, जो कि सतत् ऋणग्रस्तता में जीते हैं। आत्महत्याओं की दर भी इन्हीं ग़रीब किसानों में सबसे ज़्यादा है। **2001 से 2011 के बीच किसानों की संख्या में करीब 90 लाख की कमी आई थी।** निश्चित तौर पर, यह उसके बाद और भी तेज़ी से बढ़ी है क्योंकि कृषि संकट उसके बाद के दौर में गहराया ही है। **2011 में 26.3 करोड़ लोग खेती में लगे थे, जिनमें से आधे से भी ज़्यादा खेतिहर मज़दूर थे। किसानों की तादाद इसी दशक में 12.7 करोड़ से घटकर 11.8 करोड़ रह गयी थी।** इस किसान आबादी में भी 90 प्रतिशत परिधिगत, बेहद छोटे या छोटे किसान थे, जिनकी आजीविका का मुख्य आधार खेती नहीं रह गया है, बल्कि उजरती श्रम है।

यानी, मध्यम, उच्च मध्यम व धनी किसानों व कुलकों की आबादी आज मुश्किल से एक से डेढ़ करोड़ है, और यही आबादी है जो कि खेतिहर मज़दूरों का भूस्वामी के तौर पर, सूदखोर के तौर पर, पूँजीवादी फार्मर के तौर पर और व्यापारी और आढ़तिये के तौर पर सबसे ज़्यादा शोषण और उत्पीड़न करती है और उनकी मज़दूरी और काम के हालात को बुरी से बुरी स्थिति में बनाये रखने के लिए हर सम्भव कोशिश करती है। और अब जबकि कारपोरेट पूँजी खेती के क्षेत्र में घुस रही है और ये ग्रामीण पूँजीपति वर्ग उससे प्रतिस्पर्द्धा में तबाह होने की सम्भावना से भयाक्रान्त है, तो सहसा वह "मज़दूर-किसान एकता" का राग गाने लगा है! इस पर सर्वहारा वर्ग और ग़रीब किसानों का जवाब होना चाहिए कि लाभकारी मूल्य की लड़ाई किसी भी रूप में उसके हक़ में नहीं ठहरती है और उसकी मूल माँग है रोज़गार गारण्टी, खेत मज़दूरों के लिए सभी श्रम अधिकार और धनी किसानों, व्यापारियों, आढ़तियों के क़र्ज़ से पूर्ण मुक्ति।

तीन कृषि विधेयकों के प्रावधानों में मज़दूरों और मेहनतकशों के ख़िलाफ़ क्या है?

तीन कृषि विधेयकों में जो प्रावधान ख़ास तौर पर मज़दूरों के विरुद्ध जाता है वह है आवश्यक वस्तुओं के क़ानून में परिवर्तन। इस क़ानून के ज़रिये तमाम बुनियादी वस्तुओं की जमाख़ोरी, कालाबाज़ारी और उनकी क़ीमतों में कृत्रिम रूप से बढ़ोत्तरी करने की व्यापारिक पूँजी और दलाल बिचौलिये वर्ग की क्षमता बढ़ेगी। **व्यापारिक पूँजीपति वर्ग और साथ ही धनी किसान व कुलक वर्ग इन वस्तुओं की जमाख़ोरी कर कृत्रिम अभाव की स्थिति पैदा करेंगे और क़ीमतों को इस तरीक़े से बढ़ाकर अधिक मुनाफ़ा कमा सकते हैं।**

यह तीसरा विधेयक मज़दूरों और मेहनतकशों के सीधे ख़िलाफ़ जाता है और मज़दूरों और मेहनतकशों को अपने विरोध का निशाना मुख्यत: इस विधेयक पर रखना चाहिए। साथ ही, सरकार द्वारा सार्वजनिक वितरण प्रणाली को राज्य सरकारों के ज़िम्मे डालने के बहाने समाप्त करने की जारी साज़िश का आम मेहनतकश आबादी को विरोध करना चाहिए।

कुछ लोगों का दावा है कि यदि ए.पी.एम.सी. मण्डियों में व्यापार बन्द हो गया तो फिर इनमें काम करने वाले मज़दूरों की नौकरियाँ चली जायेंगी। **तात्कालिक तौर पर ऐसा हो भी सकता है, लेकिन यदि ए.पी.एम.सी. मण्डियों में व्यापार नहीं होगा, तो इसका यह अर्थ क़तई नहीं है कि अनाज व खेती के अन्य उत्पादों का व्यापार ही नहीं होगा। यह व्यापार जारी रहेगा और उसमें मज़दूरों की ज़रूरत भी बनी रहेगी। बस अन्तर यह होगा कि अब यह कार्यशक्ति ए.पी.एम.सी. मण्डियों में ठेकेदारों व आढ़तियों के मातहत काम नहीं करेगी, बल्कि बड़ी कॉरपोरेट पूँजी के अनाज प्राप्ति व ख़रीद की व्यवस्था में काम करेगी।**

क्या बड़ी कारपोरेट पूँजी के इस क्षेत्र में प्रवेश के साथ इसमें रोज़गार घटेंगे? यह भी कई कारकों पर निर्भर करता है। चूंकि आम तौर पर बड़ी कॉरपोरेट पूँजी के किसी भी क्षेत्र में प्रवेश के साथ पूँजी का आवयविक संघटन बढ़ता है और प्रति इकाई रोज़गार घटता है, इसलिए कम-से-कम तात्कालिक तौर पर रोज़गार में कमी *आ भी* सकती है। लेकिन अगर उत्पादन और व्यापार विस्तारित होते हैं, तो वह बढ़ भी सकता है। **सिर्फ़ इस आधार पर कि इस क्षेत्र में बड़ी कारपोरेट पूँजी आयेगी और अपेक्षाकृत छोटी पूँजी प्रतिस्पर्द्धा में पराजित होगी, इसका विरोध करने का कोई अर्थ नहीं है। दूसरी बात, पूँजीवादी व्यवस्था के रहते इसके अलावा किसी और परिणाम की अपेक्षा करना और उसके प्रति लोगों में आशा पैदा करना प्रतिक्रियावादी और रूमानीवादी अवस्थिति है।**

मज़ेदार बात यह है कि जो लोग ए.पी.एम.सी. मण्डियों के अप्रासंगिक होने के साथ यहाँ काम करने वाले मज़दूरों की नौकरियों के जाने की शंका से पेट में मरोड़ उठाए बैठे हैं, वे धनी किसानों और कुलकों के मंच पर जाकर 'ता-ता थैया' कर रहे हैं, जबकि ये धनी किसान और कुलक अपने मंचों पर इन मण्डियों को बचाये जाने को लेकर कोई ख़ास शोरगुल नहीं कर रहे हैं, *बल्कि यह कह रहे हैं कि यदि इन मण्डियों के बाहर व्यापार क्षेत्रों में व्यापार की इजाज़त दी जाती है, तो किसानों को लाभकारी मूल्य का क़ानूनी हक़ दिया जाय, जिससे कि कोई भी ख़रीदार चाहे कहीं भी कृषि उत्पाद ख़रीदे, लाभकारी मूल्य पर ही ख़रीदे।* **यानी इन धनी किसानों और कुलकों को ए.पी.एम.सी. मण्डियों में काम करने वाली मज़दूर आबादी की नौकरियों की चिन्ता नहीं है। उन्हें केवल लाभकारी मूल्य की चिन्ता है।**

हमें इन मज़दूरों के लिए भी रोज़गार गारण्टी और नियमितीकरण की माँग करनी चाहिए। ए.पी.एम.सी. मण्डियों और लाभकारी मूल्य की व्यवस्था को बचाना अपने आप में हमारे लिए कोई कार्यभार नहीं है। हम इन मज़दूरों के लिए भी सरकार की ओर से रोज़गार गारण्टी की माँग करेंगे, न कि धनी किसानों व कुलकों के लिए लाभकारी मूल्य के तंत्र को बचाने की माँग, जो कि इन मज़दूरों के ही ख़िलाफ़ जाती है। और यदि धनी किसान, कुलक, सूदखोर और आढ़तिये ए.पी.एम.सी. मण्डियों को बचाने की बात करते हैं, तो हमें उनसे इसके समर्थन की पूर्वशर्त के तौर पर यह माँग करनी चाहिए कि इन मण्डियों में काम करने वाले सभी मज़दूरों को नियमित किया जाय, उन्हें सभी श्रम अधिकार दिये जायें, जैसे कि 8 घण्टे का कार्यदिवस, न्यूनतम मज़दूरी, इत्यादि। ज़ाहिर है, ये आढ़तिये, बिचौलिये और सूदखोर (जो अक्सर स्वयं धनी किसान या कुलक भी होते हैं!) इन मज़दूरों की इन माँगों की कोई चर्चा नहीं कर रहे हैं।

इसी से यह प्रश्न भी उठता है कि क्या धनी किसानों व कुलकों के आन्दोलन के मंच पर जाकर हम इन विधेयकों के उन प्रावधानों का कोई अर्थपूर्ण विरोध कर सकते हैं, जो कि व्यापक आम मेहनतकश जनता के ख़िलाफ़ जाते हैं?

क्या धनी किसानों व कुलकों के इस आन्दोलन से तात्कालिक तौर पर कोई फ़ासीवाद-विरोधी मोर्चा बन सकता है?

इसका सीधा उत्तर है: नहीं! क्यों? फ़ासीवाद के विरुद्ध कोई तात्कालिक रणकौशलात्मक मोर्चा भी ऐसे आन्दोलनों के साथ नहीं बन सकता है, जिनकी माँगें सीधे सर्वहारा वर्ग और आम मेहनतकश आबादी के ख़िलाफ़ जाती हों। आम तौर पर ही यदि शासक वर्ग के दो धड़ों के बीच आपसी अन्तरविरोध है, तो सर्वहारा वर्ग दाँव-पेच के तौर पर साझे शत्रु के विरुद्ध शासक वर्ग के किसी अलग ब्लॉक से रणकौशलात्मक मोर्चा तभी बना सकता है, जब कि उस ब्लॉक की माँगें सीधे सर्वहारा वर्ग के ख़िलाफ़ न जाती हों, जो कि अपवादस्वरूप स्थितियों में ही होता है।

मौजूदा सूरत में ऐसा नहीं है। **धनी किसान व कुलक वर्ग की माँगें न सिर्फ़ सर्वहारा वर्ग और आम मेहनतकश आबादी के ख़िलाफ़ जाती हैं, बल्कि वे सीधे-सीधे सर्वहारा वर्ग और आम ग़रीब किसान आबादी के हितों पर सक्रियता से चोट कर रही हैं।**

इसके अलावा, धनी किसानों व कुलकों का यह वर्ग कितना फ़ासीवाद-विरोधी हो सकता है, यह विशेष तौर पर हम पिछले एक दशक में देख चुके हैं। नवउदारवाद के दौर में क्लासिकीय कुलक राजनीति के विघटन और प्रस्थान के साथ इस ख़ाली जगह को संघ परिवार व भाजपा की फ़ासीवादी राजनीति व अन्य प्रकार की दक्षिणपन्थी व धार्मिक कट्टरपन्थी राजनीति ने तेज़ी से भरा है। विशेष तौर पर, पश्चिमी उत्तर प्रदेश और हरियाणा में इस परिघटना को देखा जा सकता है। यह वर्ग अपनी प्रकृति से ही फ़ासीवाद का सामाजिक आधार बनने की सम्भावना-सम्पन्नता रखता हैं और विशेष तौर पर उत्तर भारत में बना भी है। तात्कालिक तौर पर, किसी आर्थिक मुद्दे या किसी विशिष्ट माँग पर इसका फ़ासीवादी सरकार के साथ अन्तरविरोध हो सकता है। लेकिन यह वर्ग मौक़ा पड़ने पर फ़ासीवादियों के साथ या अन्य प्रकार की धार्मिक कट्टरपन्थी या दक्षिणपन्थी राजनीति के साथ खड़ा हो सकता है और हालिया दौर में होता भी रहा है।

इसके अलावा, गाँवों में यह वर्ग दलित खेतिहर मज़दूर आबादी का प्रमुख उत्पीड़क व शोषक सिद्ध हुआ है। दरअसल, कुलकों व धनी किसानों का यह वर्ग समूची खेत मज़दूर आबादी का प्रमुख उत्पीड़क व शोषक सिद्ध हुआ है। इसकी वजह स्पष्ट है। यह खेतिहर पूँजीपति वर्ग अपने अधिशेष विनियोजन व मुनाफ़े के लिए मुख्य तौर पर इसी खेत मज़दूर आबादी के श्रमशक्ति के दोहन पर निर्भर है। ऐसी सूरत में अक्सर ही यह होता है कि प्रमुख शोषक वर्ग अपने द्वारा शोषित मेहनतकश जनता की सामाजिक रूप से अरक्षित स्थिति का इस्तेमाल भी करते हैं, ताकि उनका सामाजिक उत्पीड़न व दमन भी किया जा सके, क्योंकि यह सामाजिक उत्पीड़न और दमन इन शोषित वर्गों को आर्थिक तौर पर और भी अरक्षित बना देता है। अभी कुछ ही दिनों पहले पंजाब और हरियाणा में प्रवासी मज़दूरों की कमी के कारण इन प्रदेशों के दलित खेतिहर मज़दूरों के साथ इन धनी किसानों व कुलकों ने क्या बर्ताव किया है, यह भी किसी से छिपा नहीं है।

इसके अलावा, पिछले दिनों में धनी किसानों और कुलकों के इस वर्ग के बीच धार्मिक कट्टरपन्थी दक्षिणपन्थी राजनीति और साथ ही साम्प्रदायिक फ़ासीवादी राजनीति की बढ़ती जड़ों को भी सभी ने देखा है। इस वर्ग की आर्थिक स्थिति ही इसमें राजनीतिक प्रतिक्रियावाद के बढ़ने की ज़मीन बनाती है।

आज यदि यह वर्ग लाभकारी मूल्य के मूल प्रश्न पर सरकार के ख़िलाफ़ सड़कों पर है, जैसा कि वह पहले भी बीच-बीच में करता रहा है, तो इससे प्रगतिशील शक्तियों को बहुत आशान्वित होने की आवश्यकता नहीं है। हमेशा की तरह बड़ी इजारेदार पूँजी के हाथ को ऊपर रखने वाला कोई नया समझौता, कोई नया क़रार शासक वर्ग के इन दो धड़ों के भीतर कालान्तर में हो ही जायेगा, यह आन्दोलन किसी क्रान्तिकारी उभार की तरफ़ नहीं जाने वाला है!

निचोड़ के रूप में यही कहा जा सकता है कि पूँजीवादी व्यवस्था में ग़रीब, निम्न मध्यम और मध्यम किसानों की बहुसंख्या की नियति तबाह होने की ही है। छोटे पैमाने के उत्पादन और इस समूचे वर्ग को बचाने का कोई भी वायदा या आश्वासन इन वर्गों को देना उनके साथ ग़द्दारी और विश्वासघात है और उन्हें राजनीतिक तौर पर धनी किसानों और कुलकों का पिछलग्गू बनाना है। तो फिर इनके बीच में हमें क्या करना चाहिए? *जैसा कि लेनिन ने कहा था: सच बोलना चाहिए! सच बोलना ही क्रान्तिकारी होता है।* हमें पूँजीवादी समाज में उन्हें उनकी इस अनिवार्य नियति के बारे में बताना चाहिए, उनकी सबसे अहम माँग यानी रोज़गार के हक़ की माँग के बारे में सचेत बनाना चाहिए और उन्हें बताना चाहिए कि उनका भविष्य समाजवादी खेती, यानी सहकारी, सामूहिक या राजकीय फार्मों की खेती की व्यवस्था में ही है। केवल ऐसी व्यवस्था ही उन्हें ग़रीबी, भुखमरी, असुरक्षा और अनिश्चितता से स्थायी तौर पर मुक्ति दिला सकती है। **दूरगामी तौर पर, समाजवादी क्रान्ति ही हमारा लक्ष्य है। तात्कालिक तौर पर, रोज़गार गारण्टी की लड़ाई और खेत मज़दूरों के लिए सभी श्रम क़ानूनों की लड़ाई, और सभी कर्जों से मुक्ति की लड़ाई ही हमारी लड़ाई हो सकती है।** केवल ऐसा कार्यक्रम ही गाँवों में वर्ग संघर्ष को आगे बढ़ाएगा और ग्रामीण सर्वहारा वर्ग और अर्द्धसर्वहारा वर्ग को एक स्वतंत्र राजनीतिक शक्ति के रूप में संगठित करेगा और समाजवादी क्रान्ति के लिए तैयार करेगा।

बिहार विधानसभा चुनाव में मज़दूर वर्ग के पास क्या विकल्प है?

बिहार विधान सभा चुनावों की घोषणा हो चुकी है। चुनाव तीन चरणों में होंगे जिसमें पहले, दूसरे और तीसरे चरण का मतदान क्रमशः 28 अक्टूबर, 3 नवम्बर और 7 नवम्बर को होगा। बिहार चुनाव एक ऐसे वक़्त में हो रहा है जब कोरोना के मामले में देश नंबर वन पर पहुँचने वाला है। यदि बिहार में कोरोना की हालत पर बात करें तो स्थिति और भी गम्भीर है। बिहार की पहले से ही लचर स्वास्थ्य व्यवस्था की हालत कोरोना के बाद से बिलकुल दयनीय हो चुकी है।

एक तरफ़ कोरोना और स्वास्थ्य व्यवस्था की पंगु हालत थी और दूसरी ओर क़रीब 30 लाख आबादी सितम्बर के महीने में बाढ़ के ख़तरे से जूझ रही थी और नितीश सरकार तमाशबीन बने बैठी थी! आनन-फ़ानन में लगाये गये लॉकडाउन में लोगों के रोज़ी-रोज़गार का क्या होगा। इस कारण एक बड़ी आबादी के सामने भोजन का संकट हो गया। इस संकट के वक़्त में बिहार में चुनाव की घोषणा भी कर दी गयी है। चुनाव में अभी तक यह ऐलान हो चुका है कि एक तरफ़ राजद, कांग्रेस और संसदमार्गी वामपन्थी पार्टियाँ एक साथ गठबन्धन में उतरेंगी और दूसरी तरफ़ भाजपा और जदयू कस गठबन्धन है। लोजपा ने भाजपा के साथ साँठगाँठ करके अकेले चुनाव लड़ने का फैसला कर लिया है।

कोरोना काल और लॉकडाउन के दौर में केन्द्र में शासन करने वाली न सिर्फ़ भाजपा सरकार नंगी हुई है बल्कि पूरी व्यवस्था बेनक़ाब हुई है। अचानक से लागू किये लॉकडाउन के कारण मज़दूर आबादी का बड़ा हुजूम शहरों से गाँव की तरफ़ बिना कोई साधन के पैदल वापस आने को मजबूर हुआ और राह चलते कई मज़दूरों की मौतें होने के बावजूद केन्द्र और सरकारें के कान में जूँ तक नहीं रेंगी। शुरुआत में राज्य सरकारों ख़ासकर यू.पी. और बिहार की सरकारों द्वारा मज़दूरों को राज्य की सीमाएँ पार कर गाँव जाने की अनुमति नहीं प्रदान की गयी थी। एक तरफ़ मज़दूरों के प्रति सरकार के इस रवैये से मज़दूर वर्ग के भ्रम भी टूटे वहीं दूसरी तरफ़ कोरोना काल में स्वास्थ्य व्यवस्था ने बिहार सरकार के विकास की पोल पट्टी खोल के रख दी! इस समय राशन को लेकर, रोज़गार, बेहतर स्वास्थ्य व्यवस्था हर चीज़ को लेकर लोगों का ग़ुस्सा सड़कों पर दिख रहा है, लेकिन अक्सर होता है यह है कि ग़ुस्से में जनता सत्तासीन पार्टी को सबक़ सिखाने के मक़सद से वोट देती है और किसी क्रान्तिकारी विकल्प के अभाव में दूसरी विपक्षी पूँजीवादी पार्टी को चुन लेती है।

नीतीश कुमार की अगुवाई में लगभग 15 वर्षों से बिहार में भाजपा-जदयू गठबंधन का शासन रहा है मगर उनके पास 'सुशासन' और 'विकास' के फ़र्ज़ी दावों के सिवा कुछ नहीं है। चुनाव के समय ग़रीबों की बातें करने वाले नीतीश कुमार ने हज़ारों किलोमीटर पैदल चलकर बिहार लौटने वाले मज़दूरों के बारे में कहा था कि उन्हें "बिहार में घुसने नहीं देंगे!" उप मुख्यमंत्री सुशील मोदी 15 साल तक रोज़गार के लिए कुछ न करने के बाद बेशर्मी से कह रहे हैं कि सत्ता में लौटने पर रोज़गार की कमी नहीं रहने देंगे। एक और निर्लज्ज मंत्री कह रहा है कि बिहार के लोग मज़े के लिए दूसरे राज्यों में जाते हैं। हक़ीक़त यह है कि बिहार में बेरोज़गारी की दर देश की औसत बेरोजगारी दर से करीब दोगुनी हो चुकी है। यहाँ केन्द्र व राज्य सरकार के हज़ारों पद ख़ाली पड़े हैं। एक ओर बिजली, नगर निकाय, स्वास्थ्य व अन्य विभागों में निजीकरण बढ़ाया जा रहा है, दूसरी ओर ठेका, संविदा, मानदेय, प्रोत्साहन आदि के तहत लाखों कर्मचारियों को न्यूनतम मजदूरी से भी कम वेतन देकर 12-12 घण्टे काम कराया जा रहा है।

कोरोना महामारी ने यह भी दिखा दिया कि देश की सबसे घटिया स्वास्थ्य व्यवस्था बिहार में है। कोविड-19 मामलों की जाँच के मामले में भी बिहार सबसे पिछड़ा हुआ है। नीतीश कुमार यह दावा करते फिर रहे हैं कि कोविड से मृत्यु दर बिहार में सबसे कम है लेकिन सच्चाई यह है कि मामले दबाये जा रहे हैं। इसका अन्दाज़ा इसी बात से लगाया जा सकता है कि कोविड से डॉक्टरों की मृत्यु दर बिहार में राष्ट्रीय औसत से नौगुना है।

निजीकरण-उदारीकरण की नीतियों को ज़ोर-शोर से लागू करते हुए केन्द्र में सत्तासीन भाजपा सरकार बीएसएनएल, रेल, एयर इण्डिया आदि ऐसे तमाम सरकारी संस्थानों को बेचने पर उतारू हो गई है। इसका सीधा नतीजा यह होगा कि मँहगाई बढ़ेगी जिसका असर आम मेहनतकश तबक़े से आने वाले लोगों पर सबसे ज़्यादा होगा! बेरोज़गारी का ऐसा आलम है कि नरेन्द्र मोदी के जन्म दिवस पर नौजवान बेरोज़गारी दिवस मना रहे हैं। मोदी सरकार की निजीकरण की नीतियों से रही-सही नौकरियाँ भी जा रही हैं। देश की जनता इन नीतियों के कारण पैदा होने वाली ग़रीबी, बेरोज़गारी, महँगाई के ख़िलाफ़ एकजुट और गोलबन्द ना हो पाएँ इसके लिए फ़ासीवादी मोदी सरकार और उसके पीछे खड़ा संघ परिवार देश को दंगों और युद्ध की आग में झोंकने की कोशिश में लगा है, हालाँकि फिर भी संघ परिवार और मोदी सरकार जनता के असन्तोष को शान्त करने में विफल रही है। कांग्रेस की बात करें तो हम सभी जानते हैं कि आज जिन पूँजीपरस्त नीतियों को मोदी सरकार मुस्तैदी से लागू कर रही है, दरअसल उनकी शुरुआत कांग्रेस ने 1990 के काल में की थी। कांग्रेस ने ही तमाम सरकारी संस्थानों का निजीकरण करके उसको जनता की पहुँच से दूर करना शुरू किया था। साम्प्रदायिकता के मुद्दे पर भी कांग्रेस ने हमेशा दोहरी नीति अपनायी है और कांग्रेस ने हमेशा साम्प्रदायिक फ़ासीवाद को खाद-पानी देने का ही काम किया है। कांग्रेस हमेशा से सॉफ़्ट हिन्दुत्व का कार्ड खेलते आयी है। वास्तव में कांग्रेस एक प्रतिक्रियावादी मध्य मार्गी पूँजीवादी पार्टी है और वह बड़े पूँजीपति वर्ग की ही नुमाइन्दगी करती है और उन्हीं के लिए नीतियाँ बनाती है। भाजपा कांग्रेस में फ़र्क़ बस इतना है कि कांग्रेस थोड़ी सुधारवाद की नौटंकी के साथ पूँजीपरस्त नीतियों को लागू करती है। यह दोनों ही मुख्य पार्टियां बड़ी देशी और विदेशी पूँजी के हितों की ही नुमाइन्दगी करती हैं। बेशक अलग-अलग समयों और परिस्थितियों में पूँजीपति वर्ग अपनी ज़रूरत के मुताबिक़ कभी कांग्रेस तो कभी भाजपा को अपना मुख्य समर्थन देता है। बिहार में मौजूद अन्य छोटी क्षेत्रीय पार्टियों जैसे जदयू, राजद, सपा, बसपा, वी.आई.पी. पार्टी, लोजपा, रालोसपा आदि की बात करें तो ये पार्टियाँ भी आमतौर पर मध्य जातियों व पिछड़ी जातियों या दलित जातियों से आने वाले धनी व खाते-पीते फ़ार्मर, मँझोले व बड़े उद्यमी, ठेकेदार, बिल्डर, डीलरों की नुमाइन्दगी करती हैं क्योंकि इनके भी आर्थिक संसाधन मुख्यतः इन्हीं वर्गों से आते हैं। यह सभी कॉरपोरेट पूँजीपति वर्ग की भी सेवा करते हैं और उनसे भी चन्दा लेते हैं। ये किसी भी रूप में मज़दूरों मेहनतकशो, ग़रीब किसानों के हित की नुमाइन्दगी नहीं करती और न कर सकती हैं।

बिहार के सन्दर्भ में हम लोग राजद के उभार को इसी रूप में देख सकते हैं और राजद के जंगल राज के शासनकाल में भी हम लोगों ने देख रखा है कि किस तरीक़े से जनता के हिस्से कुछ भी हासिल नहीं हुआ। दूसरी तरफ़ नीतीश सरकार के 15 सालों के कार्यकाल में हमने बिहार की अर्थव्यवस्था व शिक्षा व्यवस्था आदि में कोई सुधार नहीं देखा। उल्टे कोरोना काल में लोगों की आँखों पर बँधी पट्टी भी हटा चुकी है और बिहार की स्वास्थ्य व्यवस्था की असली तस्वीर लोगों के सामने आ गयी। उसके साथ ही लॉकडाउन के काल में बड़े स्तर पर बेरोज़गारी की हालत ने नीतीश सरकार की नाक़ामयाबी को जग-जाहिर कर दिया है। संसदीय वामपन्थी यानी नकली कम्युनिस्ट पार्टियाँ जैसे भारत की कम्युनिस्ट पार्टी, भारत की कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी) और भारत की कम्युनिस्ट पार्टी (माले) लिबरेशन आदि की बात करें तो इस बार के चुनाव में इन तीनों ही पार्टियों का राजद और कांग्रेस के साथ एक गठबन्धन बना है। इसके पीछे यह तर्क दिया जा रहा है कि फ़ासीवाद को परास्त करने के लिए और बीजेपी को चुनावों में हराने के लिए हमें एक ऐसे गठबन्धन की ज़रूरत है। सीट की अपनी लड़ाई और सत्ता हासिल करने की अपनी महत्वाकांक्षा और अपने अवसरवाद को छुपाने के लिए यह पार्टियाँ कुछ भी बेतुके तर्क गढ़ कर जनता को बरगलाने का काम कर रही है। जहाँ तक फ़ासीवाद को परास्त करने की बात है, तो चुनावों में भाजपा को हराने से आप फ़ासीवादी ताक़तों को परास्त नहीं कर सकते! लेकिन आज यही चुनावबाज़ संसदमार्गी नामधारी कम्युनिस्ट पार्टियाँ जमीन पर फ़ासीवादी ताक़तों को चुनौती देने के काम को तिलांजलि दे सिर्फ़ चुनावों में बीजेपी को हराकर फ़ासीवादी ताकतों का मुक़ाबला करने की बात करती हैं। लेकिन इतिहास गवाह है की चुनावों से फ़ासीवादी ताक़तों को हराया नहीं जा सकता।

ये पार्टियाँ बात तो मज़दूर वर्ग की करती हैं लेकिन वास्तव में यह सेवा छोटे मालिकों, छोटे उद्यमियों, छोटे व्यापारियों, बड़े और मझोले किसानों और मज़दूरों के एक बेहद छोटे से हिस्से यानी कि संगठित क्षेत्र में काम करने वाले पक्के कर्मचारी के वर्ग की करती हैं। साथ ही, जिन जगहों पर इनकी सरकारें सत्ता में रहीं, इन्होंने बड़े पूँजीपति वर्ग की सेवा में भी कोई कोर कसर नहीं छोड़ी। पश्चिम बंगाल में अपने भूतपूर्व सरकार के दौरान इन्होंने टाटा की नैनो कार का कारख़ाना लगवाने के लिए मज़दूरों, गरीब किसानों पर बर्बरता से हमला किया और उनके विरोध को क्रूरता से कुचला। यही काम इन नामधारी कम्युनिस्ट पार्टियों ने नंदीग्राम और सिंगूर में भी किया। लेकिन ये तथाकथित कम्युनिस्ट पार्टियाँ आज मज़दूरों को मालिकों से वर्ग सहयोग करने की नसीहत देती हैं। इनके मुँह से यदि कॉर्पोरेट पूँजीपति वर्ग के खिलाफ कुछ शब्द निकलते भी हैं तो इसलिए क्योंकि यह छोटे पूँजीपति वर्ग, व्यापारी वर्ग की नुमाइन्दगी करती हैं।

भाकपा (माले) लिबरेशन भी भाकपा व माकपा के समान ही एक नकली कम्युनिस्ट पार्टी है जिसने मज़दूर वर्ग से ग़द्दारी की है और इंक़लाबी रास्ते को छोड़कर संसदवादी बन चुकी है। यह भी उन्हीं वर्गों की नुमाइन्दगी करती है जिनकी भाकपा व माकपा करते हैं। बस फ़र्क़ यह है कि यह ज़्यादा गर्म जुमलों का इस्तेमाल करती है। छोटे पूँजीपति वर्ग, छोटे व्यापारी, छोटे उद्यमी, धनी व मँझौले किसान और संगठित क्षेत्र के कर्मचारियों में से स्थायी कर्मचारियों के हितों की नुमाइन्दगी करने के बावजूद भी इन नामधारी संसदमार्गी कम्युनिस्ट पार्टियों को आम मज़दूर मेहनतकश वर्ग का एक हिस्सा वोट देता है, जिसका एकमात्र कारण किसी सही विकल्प का अभाव है। इसके साथ ही इन पार्टियों के सुधारवादी, अर्थवादी केन्द्रीय ट्रेड यूनियन अपने मज़दूर आन्दोलन के ज़रिये मज़दूरों के एक हिस्से पर अपना प्रभाव बनाये रखते हैं, यह भी एक कारण है कि मज़दूर तबक़े का एक हिस्सा इन्हें वोट करता है।

मेहनतकश का एक नारा – RWPI पक्ष हमारा! नहीं चुनेंगे बुरा विकल्प – खड़ा करेंगे अपना पक्ष!
पटना के दीघा विधानसभा सीट पर लड़ेगी भारत की क्रान्तिकारी मज़दूर पार्टी !

बिहार की जाति-आधारित राजनीति और धनबल-बहुबल पर आधारित पूँजीवादी चुनावी राजनीति को चुनौती देते हुए और मेहनतकशों का एक नया विकल्प खड़ा करने की शुरुआत करते हुए भारत की क्रान्तिकारी मज़दूर पार्टी (आर.डब्ल्यू.पीआई.) इस बार के विधानसभा चुनाव में शिरकत कर रही है। आर.डब्ल्यू.पीआई. मेहनतकश जनता के संसाधनों पर और मेहनतकश जनता के बीच संघर्षों में तपे-तपाए कार्यकर्ताओं की सामूहिक अगुवाई में चलती है। फ़िलहाल पार्टी पटना की दीघा सीट से चुनाव में भागीदारी कर रही है।

भारत की क्रान्तिकारी मज़दूर पार्टी मज़दूर वर्ग का स्वतंत्र राजनीतिक पक्ष मज़बूती से रखती है और चुनाव समेत हर क्षेत्र में मज़दूर वर्ग के हितों का प्रतिनिधित्व करती है।। पार्टी का अन्तिम लक्ष्य मज़दूर सत्ता और समाजवादी व्यवस्था की स्थापना है। 'मज़दूर बिगुल' भारत की क्रान्तिकारी मज़दूर पार्टी के कार्यक्रम के आधार पर उसका समर्थन करता है और मानता है कि जब तक यह पार्टी समाजवाद स्थापित करने के अपने लक्ष्य के लिए क्रान्तिकारी रास्ते पर चलती रहती है और सर्वहारा विचारधारा और राजनीति पर अडिग रहती है, तब तक मज़दूर वर्ग को इस पार्टी को अपना समर्थन देना चाहिए।

भारत की क्रान्तिकारी मज़दूर पार्टी की उम्मीदवार वारुणी पूर्वा ने नामांकन दाखिल किया

भारत की क्रांतिकारी मज़दूर पार्टी लम्बे समय से दीघा विधानसभा क्षेत्र में मेहनतकशों को संगठित करती रही है तथा उनकी माँगों को लेकर संघर्ष चलाती रही है। बिन्द टोली इलाक़े में बेहद ज़रूरी पुल की माँग को लेकर संघर्ष हो या घरेलू कामगारों की माँगों को लेकर सरकार पर दबाव बनाना हो, पार्टी ने हमेशा उनका नेतृत्व किया है। पार्टी बाढ़ से जूझ रही गरीब आबादी के लिए फ़ौरी राहत कार्य पहुँचाने, मेडिकल कैम्प आदि लगाने के साथ ही उनके मुआवज़े तथा रिहाइश की माँगों को लगातार उठाती रही है। इसके आलावा पार्टी इस क्षेत्र में विभिन्न छोटे-बड़े मसलों पर जनता के संघर्षों में भागीदार करने के साथ ही शिक्षा और स्वास्थ्य से सम्बन्धित विभिन्न सुधार कार्य भी चलाती रही है।

भारत की क्रान्तिकारी मज़दूर पार्टी की संगठनकर्ता वारुणी पूर्वा जनता के संघर्षों में तपी तपाई कार्यकर्त्ता हैं। क्षेत्र के मेहनतकशों की मीटिंग में उनके नामांकन का प्रस्ताव मंज़ूर किया गया।

हाथरस और बलरामपुर जैसी बर्बरता का ज़िम्मेदार कौन है? दुश्मन कौन है और मज़दूर वर्ग उससे कैसे लड़े?

(पेज 1 से आगे)

क्योंकि स्त्रियाँ उत्पीड़ित समुदाय से आती हैं, और चाहे वे खाते-पीते घरों में भी पैदा हों, उन्हें दमन, उत्पीड़न और शोषण का सामना करना पड़ता है। **लेकिन यह भी सच है कि सबसे बर्बर स्त्री-विरोधी अपराधों को सामना मज़दूर वर्ग से आने वाली स्त्रियों को करना पड़ता है और यदि हम दलित मज़दूर औरतों की बात करें तो यह और भी बढ़ जाता है, क्योंकि वे सामाजिक व आर्थिक दोनों ही रूप से कमज़ोर और अरक्षित होती हैं।** लेकिन चूँकि हर स्त्री को पितृसत्तात्मक दमन और उत्पीड़न का सामना करना पड़ता है, इसलिए मज़दूर वर्ग का यह कर्तव्य बनता है कि आम तौर पर स्त्रियों की बीच उनके दमन और उत्पीड़न के कारणों के बारे में प्रचार करे, उन्हें जागृत और गोलबन्द करे। लेकिन सबसे पहले हमें समझना होगा कि औरतों का यह दमन, उत्पीड़न, उनकी इस ग़ुलामी के मूल में क्या है? इसकी शुरुआत कैसे हुई? क्यों यह ग़ुलामी पूरे मज़दूर वर्ग के लिए नुकसानदेह है? क्यों पुरुष मज़दूरों को भी औरतों के ग़ुलामी के हर रूप के विरुद्ध लड़ने की आवश्यकता है? ये बेहद लम्बी चर्चा के मुद्दे हैं, लेकिन फिर भी हम संक्षेप में कुछ बातें आपसे साझा करेंगे।

स्त्रियों का ये दमन, उत्पीड़न और शोषण क्यों होता है? इसका मूल कारण यह है निजी सम्पत्ति और वर्ग समाज का पैदा होना। निजी सम्पत्ति और वर्ग समाज पैदा होने के साथ ही औरतों का दमन शुरू हो गया था। क्योंकि निजी सम्पत्ति के साथ उत्तराधिकार और वारिस तय करने का सवाल खड़ा होता है, उसी के साथ स्त्रियों के लिए एकल विवाह प्रथा और पुरुष स्वामित्व व पितृसत्तात्मक परिवार की व्यवस्था पैदा होती है। स्त्रियों की यह ग़ुलामी वर्ग समाज के पैदा होने के साथ ही, यानी क़रीब ढाई से तीन हज़ार साल पहले ही शुरू हो गयी थी। इसके लिए हम मज़दूर साथियों को मज़दूर वर्ग के महान शिक्षक फ्रेडरिक एंगेल्स की पुस्तक 'परिवार, निजी सम्पत्ति और राज्यसत्ता की उत्पत्ति' पुस्तक पढ़ने की सलाह देंगे। इसका सार-संक्षेप जल्द ही हम 'मज़दूर बिगुल' में पेश करेंगे।

निजी सम्पत्ति और वर्ग समाज के पैदा होने के साथ औरतों की ग़ुलामी पैदा ज़रूर हुई, लेकिन औरतों की इस ग़ुलामी का स्वरूप हर नयी सामाजिक व्यवस्था में बदलता गया। दास व्यवस्था में यह पितृसत्ता सुदृढ़ रूप ले चुकी थी, लेकिन उसके बहुत से पहलू अभी पैदा नहीं हुए थे या पैदा होने की प्रक्रिया में थे। सामन्ती व्यवस्था में यह काफ़ी विकसित हो गयी थी, इसका **स्वरूप** कहीं ज़्यादा नग्न था और औरतों को पूरी तरह से चूल्हे-चौखट की ग़ुलामी में ही क़ैद रखा जाने लगा था।

पूँजीवाद में इसका स्वरूप बदला। स्त्रियों की श्रम के रूप में पूँजीवाद को अधिक सस्ती श्रमशक्ति मिली, जिसकी ज़रूरत मशीनीकरण के साथ बढ़ती गयी। इसके कारण पूँजीवाद ने एक ओर औरतों को एक हद तक घर की चौहद्दी से बाहर निकाला, वहीं दूसरी ओर, जिस प्रकार पूँजीवाद ने हर वस्तु को ही माल बनाया, उसी प्रकार औरतों की श्रमशक्ति के साथ-साथ उनके शरीर को भी एक माल, या, एक भोग की वस्तु बना दिया। इसने कई रूप अख़्तियार किये। टी.वी. व फिल्मों आदि में औरतों के शरीर को नुमाइश की वस्तु बनाने के साथ-साथ वेश्यावृत्ति को एक उद्योग की शक़्ल देने तक, औरतों की श्रमशक्ति, उनके शरीर और उनकी लैंगिकता को बेचने-ख़रीदने का माल बना दिया गया। कारख़ानों की असेम्बली लाइनों पर 14-14 घण्टे, कहीं कम मज़दूरी में खटने के साथ औरतों को घर के काम-काज और बच्चों के पालन-पोषण का बोझ भी उठाना पड़ता था, यानी कि सामाजिक पैमाने पर, श्रमशक्ति के पुनरुत्पादन को जारी रखने का काम भी औरतों को ही करना पड़ता है। पूँजीवाद द्वारा स्त्रियों के इस शोषण व उत्पीड़न के साथ-साथ उनका अन्य रूपों में भी उत्पीड़न पैदा हुआ, मसलन, लैंगिक रूप में। वेश्यावृत्ति करोड़ों रुपये के एक "उद्योग" के रूप में पूँजीवाद के साथ स्थापित हुई। इसके अलावा, पूँजीवाद के विकसित होने के साथ औरतों के शरीर को एक चीज़ बनाकर पेश करना, उसे माल बनाकर पेश करने की प्रक्रिया भी अश्लीलतम और नग्नतम स्तरों तक पहुँचती गयी।

साथ ही, पूँजीवाद ने मर्दवाद की उस सोच को भी नये रूपों में पैदा किया जिसके अनुसार औरतों का काम चूल्हे-चौखट का काम करना और बच्चों को पैदा करना व उनका पालन-पोषण करना होता है। नतीजतन, जिन मामलों में औरतें घर से बाहर निकलीं उनमें से भी अधिकांश में घर के सारे काम करना भी उसके ज़िम्मे पड़ा। यह भी पूँजीवाद के लिए फ़ायदेमन्द है। **क्योंकि यदि औरतें घर का पूरा काम नहीं करेंगी, तो पूँजीपति वर्ग के लिए मज़दूर वर्ग की श्रमशक्ति का पुनरुत्पादन कौन करेगा? मज़दूरों की श्रमशक्ति को बार-बार पैदा करने का काम कौन करेगा? मज़दूरों की पूरी नस्ल को बढ़ाने का काम कौन करेगा?** अगर मज़दूर व मेहनतकश वर्गों की औरत श्रमशक्ति के सस्ते पुनरुत्पादन के इस काम को घर में न करे, तो इसका ख़र्च भी पूँजीपति वर्ग को उठाना पड़ेगा और यह काम करना व्यावहारिक और सम्भव भी नहीं होगा। **इसलिए औरतों की ग़ुलामी पूँजीपति वर्ग के लिए फ़ायदेमन्द होती है और इसीलिए पितृसत्ता का पूँजीवाद के साथ अन्तरंग सम्बन्ध है, और इसीलिए पितृसत्ता सिर्फ़ औरत की दुश्मन नहीं है, बल्कि हरेक मज़दूर की दुश्मन भी है, चाहे वह पुरुष ही क्यों न हो।**

इसके अलावा, पूँजीवाद ने इस पूरी प्रक्रिया में उपभोगवाद की एक घिनौनी संस्कृति भी पैदा की जिसने औरतों को हर अर्थ में भोग की वस्तु बनाने में योगदान किया। कारख़ाने की असेम्बली लाइन से लेकर बाज़ार के हर कोने तक, औरतों को भोग की वस्तु बना दिया गया। ऐसे में, जिन धनपशुओं के पास पूँजी का अम्बार होता है, उन्हें यह लगता है कि जिस तरह से वह पैसे के बल पर कोई भी वस्तु ख़रीद सकते हैं, वैसे ही वे औरतों के शरीर को भी ख़रीद सकते हैं। **धनपशुओं और ख़ास तौर पर अचानक और नये-नये धनी बने पूँजीपति वर्ग के भीतर अधिकार-सम्पन्नता की एक पाशविक और अमानवीय सोच पैदा होती है।** वह हर वस्तु और हर ग़रीब इन्सान को अपनी बाप की जागीर या अपना ग़ुलाम समझता है। ये ही वह वर्ग है जो आपराधिक प्रवृत्ति से भरा होता है और तमाम अपराधों के साथ-साथ स्त्रियों के विरुद्ध बर्बर अपराधों को भी अंजाम देता है। **यही वह वर्ग है जिसकी घृणित कल्पनाओं और फ़न्तासियों की अभिव्यक्ति आज की पूँजीवादी संस्कृति में होती है, जिनमें घिनौने पोर्न वीडियो, म्यूज़िक वीडियो, घटिया फ़िल्में शामिल हैं।**

त्रासद बात यह है कि इस भयंकर सांस्कृतिक घटाटोप का असर सभी पर पड़ता है। इसमें स्वयं हम मज़दूर भी शामिल हैं। हमारी झुग्गी-बस्तियों में भी यह सांस्कृतिक ज़हर हर मोबाइल शॉप में परोसा जाता है। लक्ष्यहीनता और हताशा को नशे में डुबाने के अलावा हमारे घरों के युवा भी अपने जीवन की हताशा और निराशा को इस सांस्कृतिक मलकुण्ड में भी डुबो देता है। यह हमारी चेतना को कुन्द बनाने और हमें अपने हक़ों के लिए लड़ने में अक्षम बनाने के लिए शासक वर्ग द्वारा परोसी जा रही सांस्कृतिक अफ़ीम है, जिसका शिकार हमारे भी कई साथी हो जाते हैं। पोर्न क्लिपों, अश्लील फिल्मों और म्यूज़िक वीडियो का अम्बार हमारे बीच लगातार फेंका जाता है और इसकी स्त्री-विरोधी सोच को लगातार हमारे भीतर बिठाने का प्रयास किया जाता है।

स्त्रियों को भोग की वस्तु मानने वाली यह सोच, यह संस्कृति मज़दूर घरों से आने वाले कुछ नौजवानों के भीतर भी लम्पटीकरण और अपराधीकरण को जन्म देती है। साथ ही, यह निम्न मध्यम वर्ग और मध्यम वर्ग में भी बीमार मानसिकता वाले लोगों की एक जमात पैदा करती है। इसके शिकार ख़ास तौर पर वे लम्पट सर्वहारा वर्ग के लोग होते हैं, यानी वे जो अलग-अलग कारणों से वर्ग चेतना से रिक्त हैं। चाहे वर्ग चेतना का अभाव कभी किसी एक पेशे में और अन्य मज़दूर भाइयों-बहनों के साथ काम न करने के कारण पैदा हुआ हो, या फिर किसी कारण से किसी भी स्थायी रोज़गार से उजड़ जाने के कारण पैदा हुआ हो; यह वर्ग चेतना का अभाव लम्पट सर्वहारा वर्ग के लिए ख़तरनाक होता है और उन्हें मालिकों और ठेकेदारों के वर्ग के लिए मज़दूर वर्ग के विरुद्ध इस्तेमाल किये जाने के लिए आदर्श उम्मीदवार बना देता है। **लम्पट मज़दूर वर्ग वह है जो कि सामाजिक तौर पर तो सर्वहारा वर्ग का सदस्य है, लेकिन सर्वहारा वर्ग की राजनीतिक वर्ग चेतना से पूरी तरह से वंचित है।**

वर्ग चेतना से लैस मज़दूर वर्ग के पास वे हथियार होते हैं, जिससे कि वह पूँजीपति वर्ग द्वारा फेंके जा रहे सांस्कृतिक कचरे और स्त्री-विरोधी मूल्य-मान्यताओं और उन्हें भोग की वस्तु समझने की सोच से संघर्ष कर सके क्योंकि वह अपने रोज़मर्रा के जीवन के वर्ग संघर्ष में सामूहिकता में जीता और लड़ता है, मज़दूर वर्ग के स्त्रियों व पुरुषों की एकजुटता की ज़रूरत को समझता और महसूस करता है, वह लगातार पूँजीपति वर्ग को अपने दुश्मन के तौर पर देख पाता है। लेकिन सर्वहारा वर्ग की वर्ग चेतना से वंचित लम्पट सर्वहारा वर्ग के पास वे वैचारिक हथियार नहीं होते, जिससे कि वह इन प्रतिक्रियावादी मूल्यों के ख़िलाफ़ लड़ सके। उनके जीवन का शून्य और लक्ष्यहीनता उसे इस पितृसत्तात्मक, मर्दवादी और भोगवादी सोच का शिकार बन जाने और दिमाग़ी तौर पर बीमार व अपराधीकृत हो जाने के लिए आदर्श उम्मीदवार बनाती है, क्योंकि विचारधारात्मक तौर पर वह बेहद कमज़ोर और अरक्षित होता है।

नतीजतन, ठेकेदारों, दलालों, तरह-तरह के बिचौलियों, धनी कुलकों-फ़ार्मरों की बिगड़ैल औलादों, धनी व्यापारियों के समूचे नवधनाढ्य वर्गों के अलावा, भयंकरतम स्त्री-विरोधी अपराधों को अंजाम देने वाला दूसरा हिस्सा इस अपराधीकृत लम्पट सर्वहारा वर्ग और साथ ही लम्पट टटपुँजिया वर्ग से भी आता है। सामाजिक तौर पर मज़दूर वर्ग का सदस्य होना अपने आप में किसी मज़दूर के इंक़लाबी चरित्र को सिद्ध नहीं करता है। मज़दूर वर्ग एक वर्ग के तौर पर इतिहास का सबसे क्रान्तिकारी वर्ग है और यही पूँजीवाद का ध्वंस कर एक बेहतर सामाजिक व्यवस्था क़ायम कर सकता है। लेकिन मज़दूर वर्ग के एक-एक सदस्य की अवस्थिति क्या है, यह इस पर निर्भर करता है कि उसकी राजनीतिक वर्ग चेतना और विचारधारा क्या है। यदि कोई मज़दूर भी पूँजीपति वर्ग की विचारधारा, उसकी पितृसत्तात्मक सोच, मर्दवादी मान्यताओं, स्त्री को भोग की वस्तु समझने वाले विचारों के प्रभाव में आ जाता है, तो वह अपने वर्ग के विरुद्ध जाते हुए पूँजीपति वर्ग का पिछलग्गू बनकर अपराधीकृत भी हो सकता है। निश्चित तौर पर, मज़दूर वर्ग की बहुसंख्या की ऐसी सोच कभी नहीं बन सकती है, क्योंकि उसके भौतिक जीवन के पुनरुत्पादन की स्थितियाँ लगातार उसे पूँजीपति वर्ग की विचारधाराओं के असर से लड़ने के लिए बाध्य भी करती हैं और इस लड़ाई के लिए औज़ार भी मुहैया कराती हैं। **इसलिए यह बेहद अहम सवाल है कि हमारी सोच क्या है, हमारी विचारधारा क्या है, हमारी मूल्य-मान्यताएँ क्या हैं।** हम मज़दूरों-मेहनतकशों को भी अपने बीच लगातार पूँजीवादी विचारधारा के ख़िलाफ़ संघर्ष करना होता है, वरना हम मालिकों व ठेकेदारों के वर्ग का औज़ार मात्र बनकर रह जाएंगे क्योंकि वर्ग संघर्ष में फैसला इस बात से होता है, कि हमने राजनीतिक रूप से कौन-से वर्ग का पक्ष चुना है, किस वर्ग की अवस्थिति को अपनाया है। मज़दूर होते हुए भी यदि कोई मालिकों-ठेकेदारों की अवस्थिति अपनाता है तो निर्णायक वर्ग युद्ध में वह मालिकों-ठेकेदारों के वर्ग का ही माना जाएगा।

संक्षेप में, पूँजीवादी समाज में पितृसत्तात्मक मूल्यों-मान्यताओं, मर्दवादी सोच और भोगवादी सोच के मौजूद रहते स्त्रियों के विरुद्ध अपराध ख़त्म नहीं किये जा सकते हैं क्योंकि यह पूँजीपति वर्ग ही है जो ऐसी संस्कृति को लगातार पालने-पोसने और खाद-पानी देने का काम करता है। कोई सरकार यदि क़ानून-व्यवस्था को "दुरुस्त" भी कर दे, तो ज़्यादा से ज़्यादा ऐसे अपराधों की दर में कमी भर आ सकती है, या स्त्रियों के विरुद्ध अपराधों के रूप बदल जाएंगे, लेकिन वे ख़त्म पूँजीवादी समाज में हो ही नहीं सकते हैं। 16 दिसम्बर की घटना से लेकर हाथरस और बलरामपुर की घटना तक यही बात साबित करती हैं। और दुनिया का एक भी देश ऐसा नहीं है, जहाँ इस प्रकार के बर्बर अपराधों में बढ़ोत्तरी न हो रही हो। बर्बरता का विशिष्ट रूप निश्चित ही हर देश के पूँजीवाद के अपने अद्वितीय घिनौनेपन से तय होता है, लेकिन यह अमेरिका से लेकर यूरोप के देशों, और लातिन अमेरिका से

(पेज 14 पर जारी)

इस लोकतन्त्र के तीसरे और चौथे खम्भे यानी न्यायपालिका और मीडिया की स्वतन्त्रता और निष्पक्षता की असलियत

पिछले 6 वर्षों में न्यायपालिका और मीडिया भाजपा के फ़ासिस्ट शासन के सबसे बड़े हथियारों की भूमिका निभाते रहे हैं। भाजपा के विरोधियों पर गढ़े गये झूठे मुक़दमों में पक्षपातपूर्ण निर्णय देने से लेकर अचानक किये गये लॉकडाउन के बाद पैदल घर लौटने को मजबूर करोड़ों मज़दूरों को राहत देने से इंकार करने तक न्यायपालिका पूरी तरह इस फ़ासिस्ट सरकार के इशारों पर काम करने वाले कारकुन की तरह पेश आती रही है। मीडिया, यानी बड़े पूँजीपतियों के मालिकाने वाले गोदी मीडिया, का हाल तो इससे भी बुरा है। इसका सिर्फ़ एक ही काम है – देश में लगातार नफ़रत और झूठ फैलाना और मोदी सरकार के हर जनविरोधी फ़ैसले पर पर्दा डालना। ज़ुल्म के शिकार लोगों और ज़ुल्म के ख़िलाफ़ आवाज़ उठाने वालों को ही अपराधी घोषित कर देना। वास्तव में तमाम टीवी चैनल और बड़े अख़बार देश के करोड़ों मेहनतकशों के अधिकारों की "मॉब लिंचिंग" के अपराधी हैं।

लेकिन ऐसा नहीं है कि न्यायपालिका और मीडिया अचानक ऐसे हो गये हैं और 2014 से पहले इनका चरित्र बहुत जनपक्षधर था। दरअसल जिस पूँजीवादी लोकतंत्र के ये तीसरे और चौथे खम्भे हैं, उसमें इनकी स्वतंत्रता और निष्पक्षता महज़ एक भ्रम है। इस लोकतंत्र के पहले और दूसरे खम्भे लूट और शोषण की जिस इमारत को टिकाये हुए हैं उसी को बनाये रखने का काम इन तीसरे और चौथे खम्भों का भी है। फ़ासिस्टों ने बस यह किया है कि भ्रम के उस पर्दे को उतारकर फेंक दिया है। यहाँ हम **आलोक रंजन** और **आनन्द सिंह** की किताब **'कैसा है यह लोकतंत्र और यह संविधान किसकी सेवा करता है'** का एक अंश पेश कर रहे हैं। यह किताब लेखों की श्रृंखला के रूप में पहले "मज़दूर बिगुल' में ही छपी थी। प्रस्तुत लेख भाजपा के सत्ता में आने से पहले लिखा गया था लेकिन इससे यह समझने में मदद मिलती है कि एक पूँजीवादी लोकतंत्र में न्यायपालिका और मीडिया पूरी तरह स्वतंत्र और निष्पक्ष हो ही नहीं सकते। – सम्पादक

भारतीय लोकतन्त्र के दो प्रमुख स्तम्भों विधायिका और कार्यपालिका के जनविरोधी चरित्र का तो बहुत पहले ही पर्दाफ़ाश हो चुका था, परन्तु इसके तीसरे स्तम्भ – न्यायपालिका और तथाकथित चौथे स्तम्भ – मीडिया के चरित्र के बारे में अभी भी बहुत से लोग गफ़लत में हैं। इसकी मुख्य वजह यह है कि न्यायपालिका और मीडिया के बारे में लोगों के दिलो-दिमाग़ में यह बात बैठा दी गयी है कि ये संस्थाएँ स्वतन्त्र और निष्पक्ष हैं और इनकी मौजूदगी से सरकार और संसद की ज़्यादतियों पर नियन्त्रण रहता है।

हालाँकि पिछले कुछ वर्षों में तमाम ऐसे काण्ड और घपले-घोटाले सामने आये हैं जिनके बाद भारतीय राज्यसत्ता की इन दो संस्थाओं की साख़ पर भी बट्टा लगा है, परन्तु साथ ही साथ इन दो संस्थाओं द्वारा अपनी साख को पुर्नस्थापित करने की क़वायद भी जारी है। ऐसे समय में जब न्यायपालिका के नीचे से लेकर शीर्ष तक भ्रष्टाचार में डूबे होने की बातें सामने आने से लोगों का विश्वास डगमगा रहा था, न्यायपालिका ने हाल में कुछ प्रगतिशील दिखने वाले फ़ैसले दिये हैं (मसलन दागी नेताओं से सम्बन्धित फ़ैसला और 'राइट-टू-रिजेक्ट' यानी ख़ारिज करने के अधिकार से सम्बन्धित फ़ैसला) जिनके बाद से जनता के अच्छे-खासे हिस्से में एक बार फिर इस तथाकथित लोकतन्त्र के प्रति खोयी हुई उम्मीद जाग गयी। इसी तरह राडिया टेपकाण्ड, जी न्यूज़ प्रकरण और पेड न्यूज़ परिघटना के सामने आने के बाद मीडिया भी अपनी आत्मालोचना का ढोंग रचकर और तमाम नकली जनान्दोलनों की कवरेज करके अपने दामन पर लगे गहरे धब्बों को साफ़ करने में जुट गया। ऐसे में इस सच्चाई को सामने लाना बेहद ज़रूरी है कि स्वतन्त्रता और निष्पक्षता का ढोंग करने वाली ये संस्थाएँ भी किस तरह से शोषण और उत्पीड़न पर टिकी मौजूदा पूँजीवादी व्यवस्था को और गहराई से स्थापित करने का काम करती है और इसलिए अपने चरित्र से ये जनविरोधी हैं।

भारतीय संविधान में न्यायपालिका को संविधान का संरक्षक बताया गया है। यानी न्यायपालिका एक ऐसे संविधान की संरक्षक है जो निजी सम्पत्ति की इंच-इंच हिफ़ाज़त करने के लिए प्रतिबद्ध है। यही वजह है कि पूँजी और श्रम के बीच जारी संघर्ष में न्यायपालिका के अधिकांश फ़ैसले पूँजी के पक्ष में होते हैं। न्यायपालिका प्राकृतिक न्याय पर टिके होने का कितना भी दम भरे, सच्चाई तो यह है कि यह बुर्जुआ न्याय पर टिकी होती है जिसके अनुसार मुट्ठीभर पूँजीपतियों द्वारा मेहनत-मज़दूरी करने वाली देश की बहुसंख्यक आबादी की मेहनत की लूट, शोषण और उत्पीड़न न्यायसंगत है। **कोई भी न्यायशील इंसान अपने सहजबोध से इसी नतीजे पर पहुँचेगा कि किसी समाज में परजीवियों की एक छोटी-सी जमात द्वारा मेहनत की लूट से विलासिता भरी ज़िन्दगी बिताना और मेहनतकशों का दरिद्रता भरा जीवन एक घोर अन्याय है। परन्तु बुर्जुआ न्यायप्रणाली के तहत इसमें कुछ भी ग़लत नहीं है। न्यायपालिका का काम महज़ इतना है कि मेहनत की जो लूट इस पूँजीवादी व्यवस्था में हो रही है, वह क़ानून के दायरे में हो। यहाँ तक कि इस लूट को और ज़्यादा भी बढ़ाना हो तो न्यायपालिका को उससे कोई गुरेज़ नहीं है, बशर्ते उसके लिए क़ानून में ज़रूरी संशोधन कर दिये जायें।**

भारतीय संविधान में जो थोड़े-बहुत अधिकार जनता को दिये गये हैं उनकी हिफ़ाज़त करने में भी भारतीय न्यायपालिका निहायत ही अक्षम साबित हुई है। ज्ञात हो कि भारतीय पूँजीवादी राज्य को एक नग्न तानाशाही में तब्दील करने वाले आपातकाल को न्यायपालिका ने न्यायसंगत ठहराया था। हम पहले ही यह चर्चा कर चुके हैं कि किस तरह संवैधानिक उपचार जनता की पहुँच से बाहर हैं। समाज के अन्य क्षेत्रों की तरह न्यायपालिका में भी पैसे वालों की तूती बोलती है। अगर आपके पास पैसा है तो जघन्य से जघन्यतम अपराध करने के बावजूद आप क़ानून की आँखों में धूल झोंककर बाइज़्ज़त बरी हो सकते हैं क्योंकि तब आप लाखों रुपये रोज़ की फ़ीस देकर राम जेठमलानी, कपिल सिब्बल, अरुण जेटली और हरीश साल्वे सरीखे वकीलों की सेवाएँ ख़रीद सकते हैं जिन्हें पहले से ही धनिकों के पक्ष में झुके बुर्जुआ क़ानून को पूरी तरह उनके पक्ष में करने में महारत हासिल है। इसकी एक ज़िन्दा मिसाल पिछले दिनों बिहार के लक्ष्मणपुर बाथे मामले में देखने में आयी जिसमें पटना उच्च न्यायालय ने 27 महिलाओं और 15 बच्चों सहित 58 निर्दोष दलितों के बर्बर नरसंहार के मुक़दमे में सभी 26 अभियुक्तों को बरी कर दिया। इसी तरह भोपाल गैस त्रासदी, 1984 के सिख विरोधी दंगे, 2002 के गुजरात दंगों को अंजाम देने वाले मुख्य अपराधियों का न्यायपालिका कुछ भी न बिगाड़ पायी। इसी तस्वीर का दूसरा पहलू यह है कि इस देश में न्याय प्रक्रिया के सुस्त और लचर होने और ग़रीबी की वजह से लाखों निर्दोष विचाराधीन क़ैदी के रूप में वर्षों से जेलों में सड़ रहे हैं। इनमें 80 प्रतिशत से भी ज़्यादा संख्या ग़रीब, दलित और अल्पसंख्यक लोगों की है। इस देश की विभिन्न अदालतों में लगभग 3 करोड़ मुक़दमे लम्बित हैं। एक आकलन के मुताबिक यदि भारतीय न्याय व्यवस्था इसी रफ़्तार से फ़ैसले देती रहे तो उसे कुल लम्बित मामलों का निपटारा करने में 320 साल लग जायेंगे।

राज्य के नीति निर्देशक सिद्धान्तों की चर्चा के दौरान हम यह देख चुके हैं कि किस प्रकार भारतीय राज्य नव-उदारवादी नीतियों के तहत किये गये अपने वायदों से एक-एक करके मुकरता जा रहा है और किस प्रकार इन सिद्धान्तों की धज्जियाँ ख़ुद इस व्यवस्था के पैरोकार ही उड़ाते हैं। इसके बावजूद संविधान की संरक्षक न्यायपालिका न सिर्फ़ चुप्पी साधे रही बल्कि कई मामलों में तो उसने इन नीतियों के पक्ष में अपने फ़ैसले दिये। इस दौर में मुनाफ़े की अन्धी हवस की ख़ातिर श्रम क़ानूनों को ज़्यादा से ज़्यादा लचीला और लचर बनाये जाने के ख़िलाफ़ भी न्यायपालिका ने चूँ तक नहीं की। यह बात सभी जानते हैं कि इस देश में मौजूदा श्रम क़ानून भी देश के किसी भी हिस्से में नहीं लागू होते। परन्तु न्यायपालिका को श्रम क़ानूनों को लागू करने के मामले में क़ानून के संरक्षक की भूमिका याद नहीं रहती जिससे साफ़ ज़ाहिर होता है कि दरअसल यह शासक वर्गों के हितों का संरक्षण करती है। यही वजह है कि न्यायपालिका के फ़ैसले अमूमन मज़दूरों के ख़िलाफ़ ही जाते हैं। मारूति मज़दूरों के आन्दोलन में गिरफ़्तार मज़दूरों की ज़मानत ठुकराते हुए न्यायधीश महोदय ने यह तर्क दिया कि मज़दूरों को ज़मानत पर रिहा करने से देश के भावी निवेशकों को ग़लत सन्देश जायेगा। साफ़ है कि इस देश में न्यायपालिका अब खुलेआम पूँजी के हित में काम कर रही है।

कुछ दशकों पहले तक न्यायपालिका की छवि एक बेदाग़ संस्था के रूप में थी जो समाज के रोम-रोम में फैले भ्रष्टाचार से सापेक्षतः मुक्त थी। लेकिन कुछ वर्षों पहले उच्चतम न्यायालय के ही तत्कालीन मुख्य न्यायधीश एस.पी. भरूचा ने यह माना था कि उच्चतम न्यायालय के लगभग बीस फ़ीसदी न्यायधीश भ्रष्ट हैं। लेकिन तब से अब तक भ्रष्टाचार की गटरगंगा में काफ़ी पानी बह चुका है। अब तो उच्चतम न्यायालय के मुख्य न्यायाधीशों तक की भ्रष्टाचार में संलिप्तता की बातें सामने आ रही हैं। अभी हाल ही में पूर्व क़ानून मंत्री शान्ति भूषण ने यह खुलासा किया था कि उच्चतम न्यायालय के पिछले 16 मुख्य न्यायधीशों में से 8 भ्रष्ट कार्रवाइयों में लिप्त थे।

आइये अब भारतीय लोकतन्त्र का चौथा स्तम्भ माने जाने वाले मीडिया की असलियत जानते हैं। **मीडिया को आमतौर पर राज्यसत्ता से स्वतन्त्र एक निष्पक्ष संस्था के रूप में प्रचारित किया जाता है और हमें यह बताया जाता है कि लोकतन्त्र में जनता की आवाज़ उठाने में मीडिया एक सशक्त भूमिका अदा करता है। लेकिन इस शोरगुल में अक्सर यह बात दबा दी जाती है कि मीडिया के इस लगातार बढ़ते ताने-बाने पर मालिकाना हक़ किसके पास है।** सच्चाई तो यह है कि इस देश के तमाम अख़बारों और टी.वी. चैनलों में बड़े कॉरपोरेट घरानों की पूँजी लगी है। ज़ाहिर है कि ये घराने अपनी पूँजी जनता की आवाज़ उठाने के लिए नहीं लगाते। इनका मक़सद मुनाफ़ा कमाना तो होता ही है, लेकिन **आज के दौर में मीडिया उससे भी ज़्यादा ख़तरनाक काम यह करता है कि वह समाज में शासक वर्गों के पक्ष में जनमत तैयार करता है। भिन्न-भिन्न तरीक़ों से मीडिया लोगों को यह बताता है कि तमाम कमियों के बावजूद पूँजीवाद का कोई विकल्प नहीं है और इसलिए जनता को इसके विकल्प के बारे में सोचना छोड़कर इसे चुपचाप स्वीकार कर लेना चाहिए। मीडिया में मौजूद तमाम विश्लेषक कुल मिलाकर इस व्यवस्था के दायरे में कुछ सुधारों की पैरोकारी करते हैं ताकि इसके अमानवीय चेहरे को किसी तरह से ढँका जा सके।**

इस प्रकार मीडिया समाज में शासक वर्गों के वैचारिक और सांस्कृतिक वर्चस्व को गहराई से स्थापित करने का काम बख़ूबी अंजाम देता है। वह तमाम मुद्दों का विश्लेषण करने के लिए एक व्याख्यात्मक ढाँचा प्रस्तुत करता है, एक ऐसा व्याख्यात्मक ढाँचा जो देखने में तो रैडिकल लगे परन्तु वह समस्याओं की जड़ यानी पूँजीवादी व्यवस्था पर एक भी सवाल नहीं करता। मीडिया आमजन को शासक वर्ग के नज़रिये से चीज़ों को देखने की आदत डालता है। अपने दामन पर लगे धब्बों को साफ़ करने और अपने को निष्पक्ष साबित करने के लिए मीडिया आजकल आत्मालोचना का ढोंग भी रचता है।

मीडिया में अभिव्यक्ति की आज़ादी को लेकर लम्बी-चौड़ी बहसें आयोजित की जाती हैं। परन्तु इन बहसों में शामिल होने वाले पत्रकार हमें यह नहीं बताते कि वे सरकार से अपनी अभिव्यक्ति की आज़ादी की लड़ाई भले ही जीत लें पर मीडिया के कॉरपोरेटीकरण के इस युग में वे पूँजी की ग़ुलामी से आज़ाद नहीं हो सकते। क्या इस सच्चाई से मुँह मोड़ा जा सकता है कि कॉरपोरेट मीडिया में काम करने वाले आम पत्रकार उजरती बौद्धिक मज़दूर हैं और सम्पादक का काम वही होता है जो कारख़ानों में सुपरवाइज़र का। कारख़ानों की तर्ज़ पर अब सूचना का उत्पादन करने वाले मीडिया घरानों में काम करने वाले पत्रकारों और मीडियाकर्मियों को भी दस-दस, बारह-बारह घण्टे खटना पड़ता है और उसके बावजूद उनकी नौकरी की सुरक्षा की कोई गारण्टी नहीं रहती। हाल ही में मुकेश अम्बानी के मालिकाने वाले टीवी चैनल सीएनएन-आईबीएन से लगभग 350 पत्रकारों और मीडियाकर्मियों को बिना किसी पूर्व सूचना के निकाल दिया गया। इससे पहले महुवा टीवी चैनल, शारदा समूह और दैनिक भास्कर समूह से भी बड़े पैमाने पर छँटनी की ख़बरें सामने आयीं। ऐसे में यह अपेक्षा करना बेमानी है कि मीडिया जनता के हित में काम करेगा।

एक दौर था जब पत्रकारिता को एक उदात्त पेशा और सामाजिक बदलाव का अस्त्र माना जाता था। परन्तु मीडिया-तन्त्र पर पूँजी का शिकंजा कसने के साथ ही पत्रकारिता क्रमशः दलाली में

(पेज 2 पर जारी)

हाथरस और बलरामपुर जैसी बर्बरता का ज़िम्मेदार कौन है? दुश्मन कौन है और मज़दूर वर्ग उससे कैसे लड़े?

(पेज 12 से आगे)

लेकर अफ़्रीका तक के देशों में अलग-अलग रूपों में हो रहा है। **आम तौर पर कहें तो पूँजीवादी समाज के मौजूद रहते स्त्री-विरोधी अपराधों को ख़त्म करने का दिवा-स्वप्न पालना निरी मूर्खता है।**

लेकिन बात यहीं ख़त्म नहीं होती है। पिछले कुछ दशकों में इन भयंकर स्त्री-विरोधी अपराधों में ज़बर्दस्त बढ़ोत्तरी हुई है। इसका क्या कारण है?

आज औरतों के ख़िलाफ़ भयंकर और बर्बर अपराधों में जो बढ़ोत्तरी हुई है, उसका एक विशिष्ट कारण भी है। **यह है पूरी दुनिया में फ़ासीवाद समेत तरह-तरह के दक्षिणपंथी प्रतिक्रियावाद का उभार।**

फ़ासीवाद क्या होता है? फ़ासीवाद मालिकों के वर्ग के सबसे अधिक मज़दूर-विरोधी, फ़िरकापरस्त, नस्लवादी, साम्प्रदायिक, प्रवासी-विरोधी प्रतिक्रियावादी हिस्से की विचारधारा है। यह पूरी तरह से बड़े पूँजीपति वर्ग की सेवा में लगा रहता है, उनके लिए मज़दूरों का बर्बर दमन करने में कोई कोर-कसर नहीं छोड़ता है और नंगई और बेशर्मी से अपने मज़दूर-विरोधी कारनामों को अंजाम देता है। अपने इन काले कारनामों को अंजाम देने के लिए फ़ासीवादी शक्तियाँ दो काम करती हैं।

पहला, वह मज़दूर वर्ग के विरुद्ध टटपुंजिया वर्गों या निम्न मध्यम व मध्यम वर्गों की असुरक्षा व अनिश्चितता का इस्तेमाल करके टटपुंजिया वर्गों का एक प्रतिक्रियावादी आन्दोलन खड़ा करती हैं। इन *'न तो पूरी तरह आबाद, न पूरी तरह बरबाद'* वर्गों के मन में यह डर बिठाया जाता है कि वे भी कहीं मज़दूर न बन जाएँ! लगातार अनिश्चितता में जी रहे ये मध्य व निम्न मध्य वर्ग एक अन्धी प्रतिक्रिया और हताशा में होते हैं और उनकी इस अन्धी प्रतिक्रिया को ये फ़ासीवादी शक्तियाँ एक नकली दुश्मन दे देती हैं। वास्तव में उनकी असुरक्षा, अनिश्चितता और बरबादी के लिए बड़ी इज़ारेदार पूँजी, यानी अम्बानी, अडानी, टाटा, बिड़ला ज़िम्मेदार होते हैं, लेकिन भाजपा और संघ परिवार उन्हें बताते हैं कि उनके दुश्मन हैं मुसलमान, दलित, और आज़ाद-ख़याल औरतें, जो पितृसत्ता की ग़ुलामी को स्वीकार नहीं करतीं! वे मज़दूर उनके दुश्मन बताए जाते हैं, जो सिर झुकाकर ग़ुलामों के लिए अम्बानी-अडानी के "राष्ट्र" के लिए 12-14 घण्टे खटने को तैयार नहीं हैं! ये हैं उस "हिन्दू राष्ट्र" के दुश्मन जिन्हें उनकी औक़ात बताने के लिए और "हिन्दू राष्ट्र" के निर्माण के लिए एक "मज़बूत नेता" की ज़रूरत है! जैसे कि मोदी जी! यदि क्रान्तिकारी ताक़तें इन निम्न मध्य वर्ग के व्यापक जनसमुदायों को उनके असली दुश्मन के बारे में बताने में, उन्हें गोलबन्द और संगठित करने में कामयाब नहीं होतीं तो ये मध्य वर्ग इस फ़ासीवादी प्रचार का शिकार हो जाते हैं। और जब तक कि ये टटपुँजिया वर्ग ये समझ पाएँ कि मोदी के "मज़बूत नेतृत्व" की मज़बूती उनके लिए नहीं बल्कि अम्बानी-अडानी के लिए है, इस "हिन्दू राष्ट्र" के असली शासक अम्बानी-अडानी और तमाम पूँजीपति हैं चाहे वे हिन्दू हों, मुसलमान हों, पारसी हों, सिख हों या ईसाई हों, कि इस "हिन्दू राष्ट्र" में आम मेहनतकश मुसलमानों के साथ-साथ आम मेहनतकश हिन्दुओं, सिखों, ईसाईयों, दलितों, औरतों को भी उतनी ही बेरहमी के साथ दबाया-कुचला जाएगा; तब तक काफ़ी देर हो चुकी होती है। **इस प्रकार से फ़ासीवादी ताक़तें निम्न मध्यवर्ग व मध्यवर्ग की प्रतिक्रिया को एक नकली दुश्मन देकर एक प्रतिक्रियावादी सामाजिक आन्दोलन खड़ा करती हैं, जिसमें कई बार लम्पट सर्वहारा वर्ग का भी एक हिस्सा शामिल होता है। और इस आन्दोलन को मज़दूर वर्ग के आन्दोलन के ख़िलाफ़ इस्तेमाल किया जाता है।**

दूसरा काम फ़ासीवादी शक्तियाँ यह करती हैं कि मज़दूर वर्ग को ही मन्दिर-मस्जिद, हिन्दू-मुसलमान, सवर्ण-दलित, प्रवासी-मूलनिवासी आदि में बाँट देती हैं, ताकि हम यह न समझ पाएँ कि हमारे वर्ग हित एक ही हैं, चाहे हमारा धर्म कोई भी हो। जात-पात का हमारे लिए कोई अर्थ नहीं है, और न ही हमारे लिए ऊँच-नीच की जातिवादी ब्राह्मणवादी सोच का कोई अर्थ है। लेकिन यदि सही विचारधारा और राजनीति मज़दूर वर्ग के बीच पकड़ जमाने में किन्हीं भी वजहों से कामयाब नहीं हो पाती तो उसे धर्म, जाति, क्षेत्र, भाषा आदि के नाम पर बाँटने में फ़ासीवादी व फ़िरकापरस्त ताक़तें कामयाब हो जाती हैं और उसका भी एक हिस्सा फ़ासीवादी आन्दोलन में शिरक़त करता है।

हमारे देश में भी भाजपा की मोदी सरकार ने यही किया है और पिछले विशेष तौर पर चार दशक से अधिक समय से संघ परिवार यही करता आ रहा है, हालाँकि इसकी तैयारी वह 95 साल से करता आ रहा है। मज़दूर वर्ग को बाँटकर और मज़दूर वर्ग के आन्दोलन के शत्रु के तौर पर टटपुँजिया वर्गों का एक प्रतिक्रियावादी सामाजिक आन्दोलन खड़ा करके, वास्तव में, अम्बानी, अडानी जैसों के हितों की सेवा करना: यही भाजपा और संघ परिवार की पूरी राजनीति है।

अब आप ख़ुद सोचिए कि ऐसे घटिया काम अंजाम देने के लिए भाजपा और संघ परिवार किस प्रकार के तत्वों को भर्ती करेंगे? **वे भर्ती करेंगे स्वामी चिन्मयानन्द, कुलदीप सिंह सेंगर, भोजपाल सिंह, जयेश पटेल, विजय जॉली, काशिमीरा अनिल भोंसले, वेंकटेश मौर्य, निहाल चन्द, प्रमोद गुप्ता! यानी सारे के सारे छँटे हुए अपराधी, गुण्डे, दुराचारी, भ्रष्टाचारी! किस प्रकार के धार्मिक बाबाओं की आवश्यकता होगी उन्हें**? **स्वामी नित्यानन्द, आसाराम बापू, गुरमीत राम रहीम, नारायण साई, स्वामी कौशलेन्द्र प्रपन्नचारी, इत्यादि! यानी, यहाँ भी सारे निकृष्ट कोटि के बदमाश, बलात्कारी, अपराधी, हत्यारे! यह है "संस्कृति", "संस्कार", "चाल-चेहरा-चरित्र" की बात करने वाली भाजपा और संघ परिवार के नेता और उससे सम्बन्ध रखने वाले धार्मिक बाबा: सारे के सारे समाज के सबसे बीमार, आपराधिक, और निकृष्ट तत्व, छँटे हुए बदमाश और दुराचारी!**

तो क्या यह कोई ताज्जुब की बात है कि जब कठुआ में एक बच्ची के साथ बलात्कार हुआ, तो उसके आरोपियों को बचाने के लिए भाजपा के लोगों ने रैलियाँ निकालीं? **क्या इसमें कोई आश्चर्य की बात है कि जब हाथरस में बलात्कार की घटना हुई तो उसके आरोपियों को बचाने के लिए सवर्णों की ग्यारह गाँवों की पंचायत करने वाले जातिवादियों को भाजपा की योगी सरकार ने पूरा संरक्षण और मदद प्रदान की**? **क्या इसमें कोई अचरज की बात है कि जब भी कोई स्त्री-विरोधी अपराध होता है, तो उसके आरोपियों से मिलने के लिए भाजपा के नेता भागे-भागे जेल जाते हैं और उन्हें मालाएँ पहनाते हैं**? **क्या किसी को इस पर विस्मय है कि हर बलात्कार की घटना पर बलात्कारी को बचाने और औरतों को ही सीमा में और संस्कार में रहने की हिदायत देने का काम इसी "संस्कारी" फ़ासीवादी भाजपा के नेता करते हैं**? **जब ऐसी पार्टी सत्ता में होगी तो क्या नवधनाढ्य वर्गों, लम्पट टटपुँजिया वर्गों और नेताओं की बिगड़ी औलादों का दुस्साहस नहीं बढ़ेगा कि वह किसी भी औरत पर हमला करे, उसे अगवा करे और उसका बलात्कार करे**? जब इन नवधनाढ्य व टटपुँजिया आपराधिक तत्वों को यह यक़ीन है कि इन अपराधों की उसे कोई सज़ा नहीं मिलेगी, बस उसे भाजपा में शामिल हो जाने की आवश्यकता है, तो ज़ाहिर सी बात है कि स्त्री-विरोधी अपराधों में बढ़ोत्तरी तो होगी ही।

जिस पार्टी का काम ही धार्मिक उन्माद फैलाकर आम मेहनतकश जनता को बाँटना हो, एक प्रतिक्रियावादी सामाजिक आन्दोलन खड़ा करना हो ताकि अम्बानी-अडानी-टाटा-बिड़ला की सेवा की जा सके, उसमें इसी प्रकार के नेता और सदस्य होंगे और उसके शासन काल में इसी प्रकार आम मेहनतकश घरों की स्त्रियों पर हमले होंगे।

यह कोई संयोग नहीं है कि औरतों के ख़िलाफ़ अपराध मोदी सरकार के अन्तर्गत 2017 तक ही 16 प्रतिशत से भी ज़्यादा बढ़ गया था, और उसके बाद तो औरतों के ख़िलाफ़ होने वाले अपराधों में और भी ज़्यादा बढ़ोत्तरी हुई है। वहीं दूसरी ओर इन अपराधों की लिए होने वाली सज़ा की दर में कोई बढ़ोत्तरी नहीं हुई है। यह तो तब है, जबकि मोदी सरकार का एक अनकहा नियम यह है कि आम मेहनतकश वर्गों के ख़िलाफ़ होने वाले अपराधों, जिनमें कि औरतों के विरुद्ध होने के वाले अपराध भी शामिल हैं, के लिए एफ़.आई.आर. ही दर्ज न की जाये! नतीजतन, अधिकांश मामले तो सामने भी नहीं आ पाते हैं। लेकिन लोग जानते हैं कि फ़ासीवादी भाजपा के आपराधिक शासन के दौर में औरतों के ख़िलाफ़ और विशेष तौर पर आम मेहनतकश घरों से आने वाली औरतों के ख़िलाफ़ अपराधों में भारी बढ़ोत्तरी हुई है और उनका जीवन पहले से कहीं ज़्यादा असुरक्षित हुआ है।

इसलिए निश्चित तौर पर, औरतों की ग़ुलामी क़ायम रहने तक औरतों के ख़िलाफ़ अपराधों को समाप्त करना सम्भव नहीं है, लेकिन यह भी स्पष्ट है कि जब भी पूँजीपति वर्ग के सबसे प्रतिक्रियावादी हिस्से की नग्न तानाशाही क़ायम होती है, यानी जब भी भाजपा जैसी फ़ासीवादी पार्टी का शासन आता है तो औरतों के ख़िलाफ़ अपराधों में अभूतपूर्व रूप से बढ़ोत्तरी होती है। इसकी वजहें हम ऊपर बता चुके हैं। जिस पार्टी की विचारधारा ही सबसे अधिक मज़दूर-विरोधी, दलित-विरोधी, स्त्री-विरोधी, अल्पसंख्यक-विरोधी हो; जिस पार्टी में छँटे हुए स्त्री-विरोधी, गुण्डे, बदमाश, अपराधी, दुराचारी नेता-मंत्री से लेकर आम सदस्य के स्तर तक भरे हुए हों; जिस पार्टी का "संस्कार" और "परम्परा" ही बलात्कारियों को समर्थन, उन्हें बचाना और उनके पक्ष में रैलियाँ निकालना हो; उसके शासन में और किसी चीज़ की उम्मीद करना भी मूर्खता होगी।

इसलिए हममें से जो भी इन बर्बर बलात्कारों और हत्याओं से व्यथित हैं, ग़ुस्से में हैं, और इनके ख़िलाफ़ लड़ना चाहते हैं, उन्हें यह समझना होगा कि यह कुछ बीमार, रुग्ण और पागल लोगों की हरक़तें नहीं हैं। आज जो फ़ासीवादी प्रतिक्रियावादी सरकार सत्ता में मौजूद है, उसने समाज के सबसे आपराधिक, पाशविक, बर्बर और प्रतिक्रियावादी तत्वों व शक्तियों को खुला हाथ दे दिया है। उन्हें किसी भी सज़ा का भय नहीं है क्योंकि शासक पार्टी उनके साथ खड़ी है और उन्हीं के जैसे आपराधिक तत्वों से भरी हुई है। स्त्री-विरोधी अपराधों में बढ़ोत्तरी इस फ़ासीवादी उभार का एक अंग है और इसलिए मज़दूर वर्ग को आज के समय में अपने इस सबसे बड़े दुश्मन के ख़िलाफ़ लड़ने के लिए एकजुट, गोलबन्द और संगठित होना होगा।

दूसरी बात जो हमें समझनी होगी वह यह कि यदि हमें इन स्त्री-विरोधी अपराधों को ख़त्म करना है, तो हमें उस पूँजीवादी व्यवस्था और समूचे वर्ग समाज के ख़िलाफ़ निर्णायक संघर्ष करना होगा जो पितृसत्ता, मर्दवाद, स्त्री-पुरुष असमानता के तमाम रूपों को जन्म देता है, उनका फ़ायदा उठाता है और उन्हें जिलाता है। यह संघर्ष मज़दूर सत्ता और समाजवाद के लिए संघर्ष है। स्त्रियों की ग़ुलामी को हमेशा के लिए ख़त्म करने का यह पहला अहम कदम है। इसके बाद भी सांस्कृतिक क्रान्तियों के ज़रिये स्त्री-पुरुष समानता को स्थापित करने की लम्बी लड़ाई चलानी होगी, मगर इस पहले कदम के बिना इसके बारे में सोचा भी नहीं जा सकता है।

तीसरी बात यह कि इस दूरगामी संघर्ष के अलावा, मज़दूर वर्ग को अपने भीतर एक सांस्कृतिक क्रान्ति की आज से ही शुरुआत करनी होगी और उन सभी मुद्दों पर मज़बूती से पोजीशन लेनी होगी जो स्त्रियों की ग़ुलामी को बढ़ावा देते हैं, पितृसत्ता और पूँजीवाद को मदद पहुँचाते हैं। मसलन, स्त्रियों को समान काम के लिए समान वेतन के अधिकार के लिए संघर्ष, स्त्रियों को चूल्हे-चौखट के कामों से मुक्ति दिलाने का संघर्ष जिसके लिए पुरुष मज़दूरों को घर के कामों और बच्चों के लालन-पालन में बराबर की ज़िम्मेदारी उठानी होगी; हमें स्त्रियों के अपने पेशे और जीवन-साथी को स्वतंत्रतापूर्वक चुनने के अधिकार के लिए लड़ना होगा, हमें घरेलू हिंसा के सभी रूपों के ख़िलाफ़ लड़ना होगा, हमें स्त्रियों के लिए बराबर की शिक्षा, पोषण व चिकित्सा के हक़ के लिए लड़ना होगा; हमें उन सभी मूल्य-मान्यताओं के विरुद्ध लड़ना होगा जो स्त्रियों की आज़ादी को किसी भी रूप में बाधित करती हैं। ये सिर्फ़ औरतों की लड़ाई नहीं है। ये सभी मज़दूरों की लड़ाई है, चाहे वे औरत हों या आदमी। अगर पुरुष मज़दूर स्त्री मज़दूर को पितृसत्ता का ग़ुलाम बनाएगा, तो वह भी पूँजीवाद की ग़ुलामी के लिए अभिशप्त होगा। इस बात को हम जितनी जल्दी समझ लें और जितनी जल्दी स्त्री व पुरुष मज़दूर बराबरी की ज़मीन पर खड़े होकर पूँजीवाद और पूँजीपति वर्ग के ख़िलाफ़ लड़ने के लिए कमर कस लें, हमारे लिए उतना ही बेहतर होगा।

भक्तोपनिषद

आधुनिक 'भक्तिकाल' की दो भक्त-कथाएँ

एक

आज सुबह-सुबह सड़क पर कुछ शोर सुनकर जब बाहर निकली तो देखा भक्त अपनी पटके वाली जाँघिया पहने सड़क पर सरपट भाग रहा है। बनियान उसकी फट चुकी थी। उसके पीछे भागते हुए फिर उसके पिताश्री दृष्टिगोचर हुए, एक हाथ में जूता और दूसरे में डण्डा धारण किये हुए। मेरे देखते ही देखते पिताश्री का उपानह भक्त के पृष्ठभाग पर 'धपाक' से जा टकराया। भक्त गिरने-गिरने को हुआ, फिर सँभलकर पिताश्री के प्रक्षेपास्त्रों की सीमा से बाहर निकल गया। फिर जब हंगामा शान्त हुआ तो भक्त मुँह लटकाये वापस लौटा और सामने के चबूतरे पर जा बैठा। तबसे वहीं बैठा कुछ चिन्तन-मनन कर रहा है। बच्चों से पता चला कि भक्त के सड़क पर निकल भागने के पहले उसके पिताजी उसे घर के बैठके और बरामदे में पटक-पटककर कूट चुके थे। मुष्टिका-प्रहार, पाद-प्रहार और दण्डिका-प्रहार से बेहाल होने के बाद भक्त सड़क पर छूट भागा था।

फिर मोहल्ले के विविध संचार-साधनों से समस्त सूचनाएँ संकलित हो गयीं। किस्सा-कोताह यह कि भक्त के पिताश्री वह पुण्यात्मा थे जो बाबरी मस्जिद ध्वंस के बाद अयोध्या की तीर्थयात्रा कर चुके थे। पहली बार उन्हें थोड़ी निराशा तब हुई थी जब अटल बिहारी की सरकार ने सरकारी कर्मचारियों की पेंशन स्कीम को ख़त्म कर दिया था। फिर भी 2014 में उन्होंने भाजपा को ही वोट दिया था। न सिर्फ़ वोट दिया था, बल्कि हर व्यक्ति के खाते में 15 लाख आने जैसे वायदों का मोहल्ले में खूब प्रचार भी किया था। 2019 तक उनकी संघ-भक्ति में धीरे-धीरे काफ़ी गिरावट आ गयी थी, हालांकि इस बार भी वोट उन्होंने मोदी को ही दिया था। इधर उनका बेटा शाखा में तैयार नया पट्ठा बन चुका था, एकदम अगिया बैताल। पर कुछ "बुरी सोहबत" के कारण चन्द महीनों में ही उसकी अटूट आस्था कुछ डगमगाने-चरमराने लगी थी। मोहल्ले की बहसों में वह भाजपा का ही पक्ष लेता था, पर ढेरों ऐसे सवाल होते थे जिनका उसके पास कोई जवाब नहीं होता था। उसकी दुविधाओं को बढ़ाने में मैंने भी अपना आवश्यक योगदान दिया था, हालाँकि मोदीजी की दैवी शक्तियों में भक्त की आस्था अभी भी बनी हुई थी एक हद तक। उधर घर की परिस्थितियों ने पिताश्री के साथ भक्त के ऊपर भी प्रभाव डाला था। मँहगाई ने जीना मुहाल कर रखा था। शादी के इन्तज़ार में बैठी बहन 30 की होने जा रही थी। शाखा के अन्य साथियों की ही तरह पढाई छूटने के तीन वर्षों बाद भी भक्त बेरोजगार था। संघ और भाजपा के नेताओं की सिफारिशें भी काम न आ सकीं।

इसी बीच कोरोना का प्रकोप-काल आ गया। एकबार फिर संघी संस्कार कुनमुनाकर जाग गये। भक्त और उसके पिताजी ने मोदीजी के आह्वान पर जमकर थाली-ताली बजाई, पटाखे फोड़े और दीया-बाती भी की। लेकिन दीया-बाती के तीसरे दिन ही भक्त के पिताश्री कोरोना पॉज़िटिव होकर अस्पताल पहुँच गये। वहाँ कोरोना से ज्यादा अस्पताल की भीषण दुर्व्यवस्था से मरते-मरते बचे। बीस दिन बाद घर लौटे, बेहद मायूस और मोहभंग की मानसिकता में। इधर रोज़ाना दफ्तर आने का भी फ़रमान आ गया। इसी बीच एक और महत्वपूर्ण घटना घट गयी। लॉकडाउन के दौरान एक शाम पिताश्री दूध और सब्ज़ी लेने निकले। अभी नुक्कड़ की दूकान तक पहुँचे ही थे कि पुलिस के सिपाही ने गरेबान पकड़कर 'माँ-बहन' करते हुए तीन-चार डण्डे रसीद कर दिए। उस दिन पिताश्री अपने बरामदे में खड़े होकर भाजपा और मोदी को चिल्ला-चिल्ला कर देर तक गाली देते रहे।

सब्र की आख़िरी हद उस दिन टूट गयी जिस दिन खबर आयी कि जो लोग 30 वर्ष नौकरी कर चुके हैं या जिनकी उम्र 55 साल की हो चुकी है, सरकार उनलोगों को रिटायर करने का फ़ैसला लेने जा रही है। पिताश्री का माथा घूम गया। क्या होगा रिटायरमेंट के बाद? पेंशन का क्रिया-कर्म करके उसका लोटा तो अपना लोटा घूमने के पहले अटलजी ही घुमा चुके थे। 2014 से अबतक अगर सात करोड़ नौकरियाँ छिन चुकी हैं, तो साहबज़ादे के नौकरी पाने की कोई उम्मीद तो दूर-दूर तक नहीं है। कारखानों में दिहाड़ी मिलाने तक के लाले पड़े हैं। उस दिन किसी ने खाना नहीं खाया। रात को भी पूरा घर गहन चिन्ता और अँधेरे में डूबा रहा।

सुबह-सुबह चाय पीते हुए पिता को दिलासा देने की गरज़ से भक्त ने बात शुरू की, "चिन्ता की कोई बात नहीं है पिताजी। अभी कई राज्यों में चुनाव हैं, फिर मोदीजी को 2024 की भी चिन्ता है। कुछ न कुछ होगा। नौकरियाँ ज़रूर निकलेंगी। कोरोना की आफ़त बीत जाये तो अर्थव्यवस्था भी सुधरेगी। वैसे संघ-भाजपा की कोशिश है ही कि कटुओं को कोई नौकरी या रोज़गार न मिले। आरक्षण को धीरे-धीरे

– कविता कृष्णपल्लवी

ख़तम किया ही जाना है। फिर हमारे जैसों के लिए कुछ और स्कोप हो जायेगा।" भक्त अभी कुछ और आशावादी बातें करने वाला था, पर पिताश्री ने इसका मौक़ा ही नहीं दिया। हाथ में लिया कप भक्त के मुँह पर उछाल दिया, सामने की टेबल को ठोकर मारकर किनारे किया और उछलकर भक्त पर चढ़ बैठे। कुर्सी उलट गयी। पिताश्री ने लातों-मुक्कों से मरम्मत करने के बाद भक्त को बरामदे से नीचे गिराकर पास पड़े जूते और लाठी से पीटना शुरू कर दिया। वह ज़ोर-ज़ोर से चीख रहे थे,, "स्साले! अभी भी तेरे सिर से 'जय श्रीराम' और मोदड़े का भूत नहीं उतरा? अबे ससुरे, मुसलमानों को बर्बाद करने के चक्कर में तो हमारा ही दिवाला पिट गया भूतनी के। गदहा है तू। तेरी अकल मैं ठिकाने लाता हूँ अभी।..." पिताश्री लगातार चीखते हुए भक्त की सेवा किये जा रहे थे। भक्त को जब लगा कि पिताजी उसकी जान ही ले लेंगे तो वह निकलकर सड़क पर भागा था।

चबूतरे पर बैठा भक्त सोच रहा था कि नाहक ही उसने पिताजी को दिलासा देने की कोशिश की जिसके चलते इतनी कुटम्मस हो गयी।

दो

भारत का एक शहर है, आईटी हब है। वहीं पर भाजपा आईटी सेल का एक बड़ा ऑफ़िस है जिसमें चौबीसों घण्टे देश-सेवा और धर्मोन्नति का काम इण्टरनेट आदि के ज़रिये होता रहता है। शिफ़्ट ड्यूटी चलती है। इन दिनों उन सभी नौजवानों में ख़ौफ़ का माहौल है जिनकी शिफ़्ट देर रात में छूटती है।

अभी तीन दिन पहले की बात है। आईटी सेल का एक नौजवान अपनी शिफ़्ट ख़त्म करके रात करीब साढ़े बारह बजे घर लौट रहा था कि ऐन उसके घर के नुक्कड़ के पास आठ-दस श्वेत-धवल धोती-कुर्ता वेशधारी नौजवानों ने उसे घेर लिया, "महोदय, आपसे कुछ वार्तालाप करना है।"

नौजवान घबराया, "क्यों? क्यों भाई, क्या बात है?" दल के नेता ने कहा, "घबराने की कोई बात नहीं है। हम लोग 'अखिल भारतीय हिन्दू धर्म रक्षा सेना' यानी 'अभाहिधरसे' के स्वयंसेवक हैं।" नौजवान थोड़ा निश्चिन्त हुआ कि अपने ही भाई-बन्धु हैं, फिर भी एक खटका मन में लगा हुआ था कि इतनी रात को कैसा वार्तालाप होना है। फिर दल के नेता ने नाम पूछा। नौजवान ने बताया, "... चतुर्वेदी।" फिर उसे धीरे-धीरे पास की नीम-अँधेरी गली की ओर हाथ के हलके इशारे से ले जाते हुए दल-नेता ने कहा, "हूँ, चतुर्वेदी। तब तो चारों वेद पढ़ रखे होंगे आपने।"

"नहीं, वेद तो नहीं पढ़े है ..."

"अबे चूतिये, फिर काहें का चतुर्वेदी।" दल के दूसरे सदस्य ने कान के नीचे एक ऐसा बजाया कि सनसनाहट होने लगी। भाषा और भाव के इस आकस्मिक परिवर्तन से नौजवान तो एकदम अकबका गया।

"अच्छा चल चारों वेदों के नाम बता।" दल-नेता ने निर्देश दिया।

"ऋग्वेद, सामवेद ..." इसके बाद नौजवान सोचने लगा और आसपास देखता भी जा रहा था कि क्या कहीं कोई बचाने वाला दिख रहा है।

"ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद... ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेदा।" हर वेद के नाम पर दो-दो चमाट खींचकर लगाते हुए दल-नेता ने गालियों की बौछार कर दी।

"अभागे, पथभ्रष्ट ब्राह्मण, तुम्हें तो चतुर्वेदी कुलोदभव होने के नाते चारों वेदों के साथ ही ब्राह्मण संहिताओं, उपनिषदों और पुराणों का भी अध्ययन होना चाहिए। तू तो किसी विधर्मी की दोगली संतान प्रतीत होता है। अच्छा चल बता, चतुर्वेदी ब्राह्मण के कितने गोत्र होते हैं?" दल के एक सदस्य ने पूछा।

नौजवान एकदम निर्वाक उन्हें ताके जा रहा था।

फिर एक-एक गोत्र के नाम पर बाँह मरोड़कर एक-एक मुक्का लगाते हुए दूसरे सदस्य ने कहा, "आठ गोत्र होते हैं म्लेच्छ। आठ – दक्ष, वशिष्ठ, धूम्म्य, सौश्रवस, कुत्स, दीक्षित, भार्गव और भारद्वाज।" और फिर उसकी झुकी पीठ पर तड़ातड़ थप्पड़ों-मुक्कों की बरसात करते हुए बोला, "और आठों गोत्रो के मिलाकर प्रवर कितने होते हैं? कुल बीस, समझे गधे, कुल बीस।"

अब तीसरे दल-सदस्य ने पूछा, "चल शाखा बता, आश्वासलायनी या रारायणी? कुलदेवी कौन, महाविद्या या चर्चिका?"

अब नौजवान का कान पकड़कर खडा करते हुए दल-नेता ने हस्तक्षेप किया, "अरे यह कोई विधर्मी या म्लेच्छ लग रहा है जो भेस बदलकर हमारे धर्म का सत्यानाश कर रहा है। छोड़ो इसे।" फिर उसने नौजवान से पूछा, "यज्ञोपवीत धारण किया है? और सबसे पहले तो यह पाश्चात्य सभ्यता की निशानी कण्ठ-लंगोट उतारकर फेंक।"

नौजवान ने टाई उतारकर जैसे ही फेंकी, एक दल-सदस्य ने कमीज़ के बटन नोचते हुए अन्दर हाथ डालकर टटोला और चिल्लाया, "अरे गुरुवर, यज्ञोपवीत तो है ही नहीं।" दल-नेता बोला, "मैं जानता था, पहले से ही जानता था।" फिर लात-मुक्कों की बरसात शुरू हो गयी।

फिर पिटाई रोकने का इशारा करते हुए दल-नेता ने पूछा, "क्या मांसभक्षी भी है।" नौजवान ने साफ़ झूठ बोल दिया और सोचा कि पिटाई के एक चक्र से तो मुक्ति मिली। तभी एक दल-सदस्य ने चीत्कार किया, "और यह नीचे क्या पहन रखा है। जीन्स – अमेरिकी आवारों-लम्पटों-व्यभिचारियों-दुश्चारित्रों का चीथड़ा। उतार इसे। फ़ौरन उतार।" नौजवान एकदम घबरा गया पर निर्देश-पालन के अतिरिक्त और कोई रास्ता नहीं था। फिर एक सदस्य ने उसके अन्तर्वस्त्र को खींचते हुए कहा, "गुरुजी, वीआईपी का कच्छा।"

दल-नेता गुर्राया, "इस विदेशी कच्छे से ब्रह्मचर्य-रक्षा होगी हरामज़ादे। राक्षस की सन्तान। बजरंग बली का आशीर्वाद, लंगोट कहाँ है? और सिर पर चुटिया भी नहीं है।" फिर उसने सदस्यों को निर्देश दिया, "देख क्या रहे हो। कर्म सीखने में समय लगेगा, परन्तु इस महापापी को कम से कम ब्राह्मण-वेश तो दो।"

फिर क्या था। आनन-फानन में नौजवान को आदिम अवस्था में ला दिया गया। फिर एक दल-सदस्य ने झोले से निकालकर उसे एक भगवा लंगोट पहनाया और दूसरे ने मन्त्र बुदबुदाते हुए उसके ऊपर गंगाजल छिड़ककर यज्ञोपवीत पहनाया। फिर तीसरे सदस्य ने फ़िलिप्स का ट्रिमर ज़ीरो नंबर पर चलाकर उसका पूरा सिर सफ़ाचट कर दिया और चुटिया के स्थान पर बालों का एक वृत्ताकार द्वीप बना दिया।

फिर गंगाजल से भरा एक पीतल का लोटा और एक लाठी हाथ में देकर, चरणों में काष्ठ-निर्मित चरण-पादुका धारण करवाकर दल नेता ने नौजवान को घर की ओर प्रस्थान करने का निर्देश दिया। जाते-जाते उसने चेतावनी देते हुए कहा, "ओ दुष्ट नराधम। धर्म की रक्षा से पहले स्वयं सच्चा हिन्दू तो बन। धर्म के आचार-विचार अपना, ब्राह्मण की तरह रह, यज्ञोपवीत और लंगोट धारण कर, धोती पहन, अंग वस्त्र धारण कर, यम-नियम-आसन कर, संध्या कर, गायत्री मन्त्र का जाप कर, वेदों, उपनिषदों और संहिताओं और भगवदगीता का नियमित अध्ययन किया कर। बिना स्वयं धर्म का अनुपालन किये तू हिन्दू धर्म की रक्षा कैसे करेगा रे पाखंडी क्लीव पुरुष। हम जा रहे हैं। पर याद रखना। हम धर्म की अदृश्य शक्ति हैं। यत्र-तत्र-सर्वत्र तुम पर हमारी दृष्टि है।"

एकदम ब्रह्मचारी ब्राह्मण बालक के वेश में जब आईटी सेल का वह नौजवान रात दो बजे घर पहुँचा तो उसके पिता सीनियर चतुर्वेदीजी तो अपने पुत्र को पहचान ही नहीं पाये। श्रीमती चतुर्वेदी भी बेहोश होते-होते बचीं। पुत्र पिता के गले लगाकर भोंकार छोड़कर रोने लगा। फिर उसने अपनी दुर्गति की पूरी कथा सुनायी। चतुर्वेदीजी प्रतापी भाजपा नेता थे। तीन बार के सभासद और एक बार के विधायक थे। अभी भूतपूर्व थे लेकिन अगली बार उम्मीदवारी की प्रतिस्पर्द्धा में थे। क्रोध के मारे वह तो एकदम लुंगी से बाहर हुए जा रहे थे। उनकी जानकारी में ऐसी कोई हिन्दू धर्म-रक्षा सेना का अस्तित्व ही नहीं था। फिर भी उसी समय कई जगह फोन मिलाकर उन्होंने अपनी जानकारी की पुष्टि कर ली।

अब उन्हें विश्वास हो चला था कि यह साज़िश किसी भी विरोधी दल वाले ने नहीं बल्कि उनकी अपनी पार्टी के भीतर के प्रतिद्वन्द्वियों ने की है। तबसे वह लगातार प्रतिशोध की आग में जल रहे हैं। श्रीमतीजी ने अलग खाना-पीना छोड़ दिया है और रोये जा रही हैं। आईटी सेल का नौजवान सेनानी तकिया में मुँह धँसाये अपने कमरे में पड़ा रहता है। ऑफ़िस से लगातार आ रही कॉल भी अटेंड नहीं कर रहा है। उधर बात न जाने कैसे पूरे मोहल्ले में फ़ैल गयी है। लोग खुसफुस करके मुस्कुरा रहे हैं और 'फिस्स-फिस्स' हँस भी रहे हैं।

चतुर्वेदीजी के आकलन के विपरीत मोहल्ले के कुछ और लोगों का कहना है कि यह कुछ वामपंथी लौंडों की शरारत है जो आईटी सेल के नौजवान की कई फ़र्ज़ी आईडी जान गये थे और दिन-रात की उसकी भद्दी-अश्लील गालियों और उन्माद भरी बातों से तंग रहा करते थे। मोहल्ले के लड़के इन बातों पर कुछ नहीं बोलते। बस चुपचाप मुस्कुराते हैं।

डाक पंजीयन : SSP/LW/NP-319/2020-2022
प्रेषण डाकघर : आर.एम.एस, चारबाग़, लखनऊ
प्रेषण तिथि : दिनांक 5, प्रत्येक माह

कोरोना महामारी के बीच मोदी सरकार का श्रम क़ानूनों पर बड़ा हमला

– अंगद

जहाँ एक तरफ़ आर्थिक संकट और कोरोना महामारी के इस दौर में मेहनतकश आबादी पहले ही बेरोज़गारी, महँगाई, भुखमरी से परेशानहाल है वहीं दूसरी तरफ़ मोदी सरकार पूँजीपतियों को मज़दूरों के ख़ून का एक-एक कतरा निचोड़ लेने के लिये बचे-खुचे श्रम क़ानूनों को ख़त्म करने में बुलेट ट्रेन की स्पीड से लग गयी है। वैसे तो उदारीकरण की नीतियों के लागू होने के बाद से ही श्रम क़ानूनों को कमज़ोर बनाने का काम अन्य सरकारों ने भी किया है लेकिन मोदी सरकार उन्हें पूरी तरह ख़त्म कर देने पर आमादा है।

सितम्बर के महीने में संसद द्वारा पारित कृषि सम्बन्धी विधेयक पर मीडिया में जमकर चर्चा हुई, लेकिन उसी दौरान पारित श्रम क़ानूनों से जुड़े तीन विधेयकों पर हमेशा की तरह चुप्पी पसरी रही । इन तीन श्रम विधेयकों में पहला 'औद्योगिक सम्बन्ध संहिता विधेयक 2020', दूसरा 'आजीविका सुरक्षा, स्वास्थ्य एवं कार्यदशा संहिता विधेयक 2020' और तीसरा 'सामाजिक सुरक्षा विधेयक 2020' शामिल हैं। फ़ासिस्ट मोदी सरकार ने इन विधेयकों को विपक्ष की ग़ैर-मौजूदगी में राज्यसभा में तानाशाहाना तरीक़े से पारित किया। हालाँकि मेहनतकशों के लिए वैसे भी विपक्ष का कोई मायने ही नहीं था क्योंकि मौजूदा विपक्ष भी सत्ता में रहते हुए लगभग ढाई दशक तक उदारीकरण की इन्ही मज़दूर-विरोधी नीतियों को लागू करता रहा है।

पारित किये गये विधेयकों में पहला 'औद्योगिक सम्बन्ध संहिता विधेयक 2020' के मुताबिक 300 से कम मज़दूरों वाले कारख़ानों को 'स्थायी आदेश' (स्टैण्डिंग ऑर्डर) तैयार करने की आवश्यकता नहीं है। जबकि पहले यह छूट 100 से कम मज़दूरों वाले कारख़ानों को ही थी। 'स्थायी आदेश' तैयार करने का मतलब होता है, औपचारिक रूप से कारख़ाने की आचार नियमावली। इसको ख़त्म करने का मतलब है कि मालिक मज़दूरों से मनमानी शर्तों पर काम लेंगें और मज़दूर किसी भी प्रकार के शोषण-उत्पीड़न के ख़िलाफ़ कोई क़ानूनी कार्रवाई नहीं कर सकता। यह विधेयक मालिकों को पूरी छूट देता है कि वे कभी भी मज़दूरों को कम्पनी से निकाल सकते हैं और कम्पनी बन्द कर सकते हैं। पहले 100 से कम मज़दूरों वाली कम्पनियों को छँटनी व कम्पनी बन्द करने के लिए सरकार से अनुमति लेने की जरूरत नहीं पड़ती थी, अब इस क़ानून के बनने के बाद यह सीमा बढ़ाकर 300 कर दी गयी है।

इस विधेयक में यह भी प्रावधान है कि मज़दूर 60 दिनों की नोटिस के बिना कोई हड़ताल नहीं कर सकते। साथ ही राष्ट्रीय औद्योगिक न्यायाधिकरण या अन्य न्यायाधिकरण के समक्ष क़ानूनी कार्रवाई के दौरान और इस कार्रवाई के 60 दिन बाद तक किसी भी प्रकार की हड़ताल नहीं की जा सकती। इस तरह यह क़ानून न केवल पूँजीपतियों को मज़दूरों से मनमानी शर्तों पर काम लेने की छूट देगा बल्कि मज़दूरों के हड़ताल करने के अधिकार को भी ख़त्म कर देगा। ज्ञात हो की पहले सिर्फ जनोपयोगी आवश्यक सेवाओं जैसे कि बिजली, पानी, टेलीफोन, प्राकृतिक गैस आदि पर ही यह कानून लागू था और इसके लिए भी दो हफ़्ते पहले नोटिस देने की आवश्यकता थी। ज़ाहिर है कि अब मोदी सरकार मज़दूरों के सारे श्रम अधिकारों को छीन कर पूँजी की नग्न लूट और तानाशाही को लागू करने पर आमादा है। और अगर कोई मज़दूर इसका विरोध करता है या हड़ताल पर जाता है तो उसे भी गैर-क़ानूनी करार देने की पूरी तैयारी इस मज़दूर-विरोधी सरकार ने कर रखी है।

इस विधेयक में यह भी प्रावधान है कि फ़ैक्ट्री का मालिक सिर्फ़ उसी मज़दूर यूनियन की बात सुनेगा जिसमें कारख़ाने के 51 प्रतिशत मज़दूर सदस्य होंगें। यानी पूँजीपतियों द्वारा दलाल ट्रेडयूनियन पालकर मज़दूरों के वास्तविक हितों की लड़ाई लड़ने वाली यूनियन को निष्प्रभावी बनाने का उपाय भी इस विधेयक में मौजूद है। दूसरा विधेयक 'सामाजिक सुरक्षा विधेयक 2020', 'कर्मचारी भविष्य निधि एक्ट 1952', 'मातृत्व लाभ एक्ट 1961', 'असंगठित श्रमिक सामाजिक सुरक्षा एक्ट 1961' सहित नौ क़ानूनों की जगह लेगा। इस विधेयक में नेशनल सिक्योरिटी बोर्ड बनाने का प्रस्ताव है। इसमें यह बात कही गयी है कि यह बोर्ड मज़दूरों की भलाई के लिए योजनाएँ शुरू करने का सुझाव देगा। लेकिन इस सम्बन्ध में इस क़ानून में कोई स्पष्टता नहीं है कि वे वास्तविक सुविधाएँ क्या होंगी जो मज़दूरों को मिलेंगी।

तीसरा विधेयक 'व्यावसायिक सुरक्षा, स्वास्थ्य एवं कार्यदशा संहिता विधेयक' है जो व्यावसायिक सुरक्षा, स्वास्थ्य और काम की परिस्थितियों को विनियमित करने वाले क़ानूनों को समेकित करता है। यह विधेयक असंगठित क्षेत्र में काम करने वाले मज़दूरों जैसे छोटी खदानों, ईंट भट्ठे, निर्माण क्षेत्र में काम करने वाले और संगठित क्षेत्र के अनौपचारिक तौर पर काम करने वाले मज़दूरों के बारे में कुछ नहीं कहता है।

2008 से जारी विश्वव्यापी आर्थिक मन्दी अब अपने चरम पर है और कोरोना महामारी ने रही-सही कसर भी पूरी कर दी है। समूची वैश्विक अर्थव्यवस्था अभूतपूर्व मन्दी के दौर से गुजर रही है और भारत में इसकी मार सबसे ज़्यादा पड़ी है। अभी ताज़ा आँकड़े के अनुसार इस साल के पहली तिमाही में जीडीपी में करीब 24 फीसदी तक की गिरावट हुईv है। ज़ाहिर है की यह सिर्फ औपचारिक क्षेत्र का आँकड़ा है और इनमें भी वास्तविक उत्पादन क्षेत्र में इससे कहीं ज्यादा की गिरावट हुई है। अगर अनौपचारिक क्षेत्र का वास्तविक आँकड़ा सामने आता तो तस्वीर और भयानक होती। मुनाफ़े की गिरती दर के संकट के ऐसे समय में फ़ासिस्ट/धुर-दक्षिणपंथी सरकारें मज़दूरों के बचे हुए क़ानूनी अधिकारों को छीनने में कोई कसर नहीं छोड़ती हैं और हर सम्भव तरीके से नये उत्पादित मूल्य में उनके हिस्से को कम से कम रखने की तमाम कोशिशें करती हैं ताकि मुनाफ़े की गिरती दर को वापस पलटा जा सके।

इन सभी मज़दूर-वर्ग विरोधी कानूनी बदलावों के विरोध में तमाम बुर्जुआ और सामाजिक-जनवादी पार्टियाँ तक चूँ नहीं कर रही हैं। हाल ही में, तीन कृषि अध्यादेशों के ख़िलाफ़ इस्तीफों और हो-हल्ले की ज़बरदस्त राजनीति लोक सभा से लेकर राज्य सभा तक देखी गयी। लेकिन मज़दूरों के मसले पर तमाम दलों की वर्ग अवस्थिति दिन के उजाले की तरह साफ़ हो जाती है।

मज़दूरों के हितों का दम्भ भरने वाली ट्रेड यूनियनों ने भी मज़दूरों के हितों पर फ़ासिस्ट सरकार द्वारा किये गए इतने बड़े हमले के ख़िलाफ़ ज़बानी जमा ख़र्च के अलावा कुछ भी नहीं किया। सोचने वाली बात है धनी किसान अपने हितों पर हो रहे हमलों के ख़िलाफ़ आन्दोलन कर रहे हैं लेकिन ट्रेडयूनियनें मज़दूरों के हितों की सुरक्षा के लिए कुछ भी नहीं कर रही हैं। मज़दूर साथियों को यह बात अब समझ लेनी चाहिए कि चुनावी पार्टियों और संसदीय वामपन्थियों से जुड़ी हुई ट्रेड यूनियनें – सीटू , एटक, इंटक ,बीएमएस, एचएमएस आदि समझौतापरस्त और दलाल हो चुकी हैं पिछले तीस वर्षों में, जबसे उदारीकरण की नीतियाँ लागू हुई हैं, इन ट्रेडयूनियनों ने मज़दूर विरोधी नीतियों के विरोध में एक दिनी रस्मी हड़ताल जैसी क़वायदें करने के अलावा किया क्या है? श्रम क़ानूनों में तेज़ी से हो रहे बदलावों के विरोध में जब तक मज़दूरों की बड़ी आबादी नहीं खड़ी होगी तब तक वह अपने हक़ों की महफ़ूज़ नहीं रख पाएगी ।

मंत्री महोदय, लॉकडाउन में मज़दूरों के पलायन के लिए फ़र्ज़ी न्यूज़ नहीं

फ़र्ज़ी सिस्टम और फ़र्ज़ी सरकार ज़िम्मेदार है!!

– आनन्द सिंह

कोरोना महामारी पर काबू पाने के नाम पर 24 मार्च को आनन-फ़ानन में लागू किये गये देशव्यापी लॉकडाउन के बाद देश के महानगरों से मज़दूरों के पलायन के दिल को झकझोर देने वाले दृश्यों को कोई भी संवेदनशील इन्सान ज़िन्दगी भर नहीं भूल सकता। यह एक कष्टकारी सत्य है कि हम विभाजन के बाद के सबसे बड़े और सबसे बेरहम पलायन के गवाह बने। हालाँकि कोरोना महामारी दुनिया के अधिकांश देशों में फैली और तमाम देशों में लॉकडाउन भी घोषित किया गया, लेकिन किसी भी अन्य देश में इतने बड़े पैमाने पर मज़दूरों का पलायन नहीं देखने में आया। इसलिए यह आधुनिक भारत की एक ऐतिहासिक परिघटना थी। यह इस देश के हुक्मरानों द्वारा इस देश की समस्त सम्पदा के सृजनकर्ता मज़दूर वर्ग को दी गयी ऐसी चोट थी जिसके लिए उन्हें कभी भी माफ़ नहीं किया जाएगा।

पहले तो सरकार और उसके चाटुकार पत्रकार मज़दूरों के पलायन की भीषण त्रासदी पर पर्दा डालनें में लगे थे, लेकिन जब बच्चों के साथ सिर पर बोरिया-बिस्तर-गठरी लादे राष्ट्रीय राजमार्गों पर सैकड़ों किमी का सफ़र पैदल या साइकिल से पूरा करने की ठानने वाले मज़दूरों की तस्वीरें सोशल मीडिया पर वायरल होने लगीं तो यह सच्चाई सबके सामने आयी। अप्रैल के महीने में केन्द्र सरकार ने उच्चतम न्यायालय के सामने यह दलील दी थी कि मज़दूरों का पलायन व्हाट्सऐप और सोशल मीडिया पर फ़र्ज़ी ख़बरों और अफ़वाहों की वजह से हुआ था। बीते 15 सितम्बर को लोकसभा में एक प्रश्न का उत्तर देते हुए केन्द्रीय गृह राज्य मंत्री नित्यानन्द राय ने भी इसी दलील को तोते की तरह दोहराया। हालाँकि मंत्री महोदय ने यह बताने की ज़हमत नहीं उठायी कि अगर कोई अफ़वाह उड़ी थी तो अब तक सरकार यह पता क्यों नहीं लगा पायी कि ऐसी ख़तरनाक अफ़वाह उड़ाने वाले लोग कौन थे और उनको सज़ा क्यों नहीं दी गयी? सोचने वाली बात यह है कि अगर बात बस इतनी थी कि मज़दूरों के बीच ग़लत सूचना फैल गयी थी तो 21वीं सदी की सूचना क्रान्ति के दौर में सरकार नागरिकों में सही सूचना क्यों नहीं पहुँचा सकी।

मज़दूरों की ज़िन्दगी के हालात से ज़रा भी वाक़िफ़ कोई शख़्स ये आसानी से समझ सकता है कि जो मज़दूर रोज़ी-रोटी की तलाश में अपने गाँवों को छोड़कर सैकड़ों-हज़ारों किलोमीटर दूर शहरों में आकर बसे थे वे क्यों लॉकडाउन में अपने गाँवों की ओर लौटने को मजबूर हुए। याद करें कि 24 मार्च को रात 8 बजे प्रधानमंत्री मोदी टीवी के सामने अवतरित हुए थे और अचानक ही उन्होंने महज़ 4 घण्टे की नोटिस पर पूरे देश में लॉकडाउन लागू करने का तानाशाहाना फ़ैसला थोप दिया था। इससे पहले 18 मार्च को भी देशवासियों को प्रधानमंत्री महोदय के दर्शन पाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। लेकिन उस दिन उन्होंने देशवासियों को अपने दिमाग़ में चल रही खुराफ़ाती योजना की भनक तक नही लगने दी थी। उस दिन उन्होंने बस अपने भक्तगाणों को 22 मार्च शाम बजे पाँच बजे पाँच मिनट के लिए थाली और ताली बजाने का टास्क दिया था। 24 मार्च को प्रधानमंत्री ने हाथ जोड़ने का नाटक करते हुए अचानक लोगों को हुक्म सुना दिया कि वे जहाँ हैं वहीं रहें। अगर इस सरकार के दिल में इस देश की मेहनतकश आबादी के प्रति ज़रा-सी भी संवेदनशीलता होती तो वह इतना सनक भरा फ़ैसला लेने से पहले सोचती कि देश के करोड़ों दिहाड़ी मज़दूर, ठेका और पीसरेट पर काम करने वाले मज़दूर समेत अनौपचारिक क्षेत्र में काम करने वाली कुल 93 फ़ीसदी मज़दूर आबादी जो रोज़ कुँआ खोदकर पानी पीती है, उसकी आमदनी के सभी स्रोत अचानक बन्द हो जाएँगे और कारख़ाने, दफ़्तर, दुकान, रेहड़ी, खोमचे, ठेले सब बन्द हो जाएँगे तो उसके लिए भूखे मरने की नौबत आ जाएगी; उसके पास राशन, तेल, सब्ज़ी, दूध, गैस आदि ख़रीदने के लिए पैसे कहाँ से आएँगे? मकान का किराया वो कैसे देंगे? लेकिन एक फ़ासिस्ट सरकार से इतनी भी संवेदनशीलता की उम्मीद करना ही बेमानी है।

लॉकडाउन के दौरान ज़्यादातर फ़ैक्ट्री मालिकों ने मज़दूरों की तनख़्वाहें देना बन्द कर दिया। यही नहीं मकान के किराये में छूट देना तो दूर कई मज़दूर बस्तियों में मकान मालिक मज़दूरों को कमरा ख़ाली करने की धमकी देते हुए पाए गए। ऐसे में भुखमरी, तंगी, बदहाली की चौतरफ़ा मार से तंग आकर मज़दूरों ने अपने गाँव की ओर रुख करने का फ़ैसला किया। लेकिन रेलवे स्टेशन पर ट्रेन नदारद थी और बस अड्डों पर बसें रुकी पड़ी थीं। ऐसे में मज़दूरों के सामने ख़ुद की मेहनत पर भरोसा करने के अलावा और कोई रास्ता नहीं बचा था। लॉकडाउन की सख़्ती में पुलिस के डण्डों और पाँव के छालों की परवाह किये बिना अपने परिवार के साथ पैदल या साइकिल से सैकड़ों और यहाँ तक कि हज़ारों किलोमीटर का रास्ता तय करने की ठान लेने का साहस फ़ैक्ट्रियों और दुकानों, रेहड़ी, खोंमचों में दिन-रात जांगर खटाने वाले मज़दूरों में ही हो सकता था। देखते ही देखते राष्ट्रीय राजमार्गों पर कड़ी धूप में पैदल गाँव की ओर जाते मज़दूरों का हुजूम दिखायी देने लगा। इस ऐतिहासिक दृश्य को छिपा पाना सरकार उसके तलवे चाटने में दिन-रात एक करने वाली दरबारी मीडिया के बस की बात नहीं थी।

लॉकडाउन के दौरान मज़दूरों के हुए ऐतिहासिक पलायन ने तथाकथित दुनिया के सबसे बड़े लोकतंत्र के घोर मज़दूर-विरोधी चरित्र को दिन के उजाले की तरह सबके सामने ला दिया है। जब आज के दौर का इतिहास लिखा जाएगा तो उसमें मज़दूरों के ख़ून के छींटों से यह लिखा जाएगा कि जिन मज़दूरों ने शहरों की आलीशान इमारतों, सड़कों, फ़्लाई-ओवरों, होटलों, गाड़ियों को बनाने में अपना हाड़-माँस गलाया था, उनको आपदा की परिस्थिति में भूखे मरने को छोड़ दिया गया था। मज़दूरों के इस पलायन के दौरान न जाने कितने मज़दूरों ने भूख और प्यास से दम तोड़ दिया और यह भी नहीं पता कि इस दौरान वास्तव में कुल कितने लोग ट्रेन से कटकर या सड़क दुर्घटना में मारे गये। सरकार के पास इन मौतों का भी कोई आँकड़ा नहीं है। अगर अब भी कोई मज़दूर इस व्यवस्था में बेहतर भविष्य के सपने देखता तो यही कहा जाएगा कि वह बहुत गफ़लत में जी रहा है। सच तो यह है कि इस खूँखार निज़ाम का एक-एक लम्हा नाक़ाबिले बर्दाश्त हो चुका है।

मुद्रक, प्रकाशक और स्वामी कात्यायनी सिन्हा द्वारा 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006 से प्रकाशित और उन्हीं के द्वारा मल्टीमीडियम, 310, संजय गांधी पुरम, फ़ैज़ाबाद रोड, लखनऊ से मुद्रित। सम्पादक : अभिनव ● सम्पादकीय पता : 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006